विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स । विधा । टा । ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-मार्च १९६७

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

सह-सम्पादक एवं व्यवस्थापक

सन्तोषकुमार झा

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नं १०४९

विवेक ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा { भारत में — ४)   एक अंक का १)
विदेशों में – २डालर या १० शिलिंग

ग्राहकों के लिये —

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिये। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती है।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

लेखकों के लिये —

१. 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए जायेंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देने वाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा। सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे

गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचना आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. कागज के एक ही ओर सुवाच्य अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख संबंधी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

— व्यवस्थापक

— सूचना —

'विवेक-ज्योति' के पिछले अंकों की कुछ प्रतियाँ प्राप्य हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं, वे १) की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं। सुन्दर उद्बोधक विचारप्रवण लेखों से परिपूर्ण 'विवेक ज्योति' का हर अङ्क संग्रहणीय है।

—व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय

स्वामी विवेकानन्द, (लन्दन में भाषण देते हुए, मई १८९६)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ५] जनवरी-फरवरी-मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) १९६७ एक प्रति का १)

परम लाभ

आत्मलाभात् परो नान्यो लाभः कश्चन विद्यते ।
यदर्था वेदवादाश्च स्मार्ताश्चापि तु याः क्रियाः ॥
आत्मार्थोऽपि हि यो लाभः सुखायेष्टो विपर्ययः ।
आत्मलाभः परः प्रोक्तो नित्यत्वाद् ब्रह्मवेदिभिः ॥

— आत्मलाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है। वेदों और स्मृतियों के उपदेश तथा समस्त क्रिया-अनुष्ठान उस आत्मा की प्राप्ति के लिए ही हैं। मनुष्य जिन्हें इष्ट समझता है और अपने लिए सुखकर मानता है, वे ही कभी कभी विपरीत फल देने वाले (अर्थात् अनिष्ठ) भी बन जाते हैं। ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि आत्मलाभ ही परम लाभ है क्योंकि वह नित्य है (अर्थात उसमें विपर्यय नहीं होता)।

—उपदेशसाहस्री, १७।४-५

बढ़ जाओ

किसी गाँव में एक लकड़हारा रहता था। भोर होते ही दूर जंगल में लकड़ी काटने वह चला जाता और लकड़ी का गट्ठर सिर पर रख शहर जाकर लकड़ियाँ बेच आता। इस प्रकार कठिन परिश्रम करता हुआ वह परिवार का पालन-पोषण करता था। बड़ी मुश्किल से एक जून का अन्न जुट पाता। जंगल में ही एक जगह एक ब्रह्मचारीजी कुटी बनाकर रहते थे। लकड़हारा प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचारीजी की कुटी के सामने लकड़ी के दो-तीन टुकड़े उनके उपयोग के लिये डाल देता। लकड़हारे की भक्ति से ब्रह्मचारीजी बड़े प्रसन्न हुए और जब वे वह स्थान छोड़कर दूसरी जगह जाने लगे तो उन्होंने आशीर्वाद के रूप में लकड़हारे से इतना ही कहा—'आगे बढ़ जाओ।'

लकड़हारा बहुत दिनों तक ब्रह्मचारीजी के इस उपदेश का मतलब नहीं समझ सका। वह एक प्रकार से इसे भूल ही गया था। अचानक एक दिन उसके मन में विचार आया — ब्रह्मचारीजी ने मुझसे आगे बढ़ जाने के लिए कहा है। मैं तो बस यहीं के जंगल से लकड़ियाँ काटकर बेच आता हूँ। आगे बढ़कर तो देखूँ।

दूसरे दिन वह जंगल में आगे बढ़ गया। कुछ दूर जाने पर उसने देखा कि जंगल घना हो गया है और सारा वातावरण मलयानिल से महक रहा है। कुछ ही दूर और आगे बढ़ने पर उसने चदन ही चन्दन के वृक्ष देखे। लकड़-हारा खुशी के मारे फूल उठा। सोचा, तभी तो ब्रह्मचारीजी

ने आगे बढ़ने का निर्देश दिया था। उसने चन्दन की लकड़ियाँ काटीं और बाजार में जाकर बेच आया। कुछ ही दिनों में उसके पास बहुतसा पैसा हो गया।

क्रम इसी प्रकार चलता रहा। पर्याप्त समय बीत गया। अचानक एक दिन लकड़हारे के मन में विचार कौंधा—'अरे, ब्रह्मचारीजी ने तो आगे बढ़ने का निर्देश दिया था। उन्होंने ऐसा तो नहीं कहा था कि चन्दन के वन में पहुँच कर रुक जाना। मुझे और आगे बढ़कर देखना चाहिए।'

दूसरे दिन लकड़हारा जंगल में और आगे बढ़ गया। चन्दन के वन को पार करने पर कुछ दूर में उसे तांबे की खदान मिली। अब वह लकड़हारे से ठेकेदार बन गया और खदान से तांबा निकालकर बेचने लगा। कुछ ही दिनों में वह मालामाल हो गया। पर अब लकड़हारा वहाँ रुका नहीं। वह तांबे की खदान को पार कर और आगे बढ़गया। उसे चाँदी की खदान मिली। उसे भी पार करने पर सोने की और उसके भी उस पार हीरे-माणिक्य की। लकड़हारे के भाग्य का क्या पूछना! वह तो साक्षात् कुबेर बन गया!

आध्यात्मिक जीवन में हम भी थोड़ी सी सिद्धि पाकर वहीं जमकर बैठ जाते हैं। हम आगे बढ़ने का प्रयास नहीं करते। यदि हम इन छोटी-मोटी सिद्धियों के फेर में न पड़कर सतत आगे बढ़ते रहें तो हमें नित-नवीन आध्यात्मिक खजाना प्राप्त होता रहेगा और हम अध्यात्म-धन से धनी बन जायेंगे। 'बढ़ जाओ – बढ़ जाओ'! श्रुति भगवती भी यही कहती है —'चरैवेति,चरैवेति'।

मन शान्त कैसे हो ?

ब्रह्मलीन स्वामी ज्ञानेश्वरानन्दजी, रामकृष्ण मिशन

(स्वामी ज्ञानेश्वरानन्दजी अमेरिका में शिकागो शहर स्थित 'विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी' के संस्थापक थे। प्रस्तुत व्याख्यान उनके द्वारा सन् १९३५ में प्रदत्त हुआ था।)

एक समय मैं नाइगरा जलप्रपात के समीप खड़ा था। वहाँ उठनेवाले प्रचण्ड रव को सुनता हुआ मैं आश्चर्य कर रहा था कि आखिर उस भयंकर कोलाहल का कारण क्या है। मैं सोचने लगा — यह कोलाहल कब से शुरू हुआ और कब इसकी समाप्ति होगी; कब वह पूरी तरह शान्त भाव धारण करेगा ? अन्त में इसी निष्कष पर पहुँचा कि यह प्रचण्ड रव, यह भीषण कोलाहल, यह भयंकर प्रक्षुब्ध भाव पूरी तरह से शान्त, स्थिर और क्षोभरहित तभी होगा जब इस प्रपात के ऊपर और नीचे के दोनों भाग एक और सम हो जायेंगे। ऊपर का भाग अनवरत रूप से एक विशाल जलराशि नीचे के भाग में ढाल रहा है। नीचे का भाग उस जलराशि को ग्रहण तो कर रहा है पर उसे अपने पास नहीं रख पा रहा है; सतत उसे प्रवाह के रूप में खर्च कर दे रहा है। फिर भी, ऊपर से जल की प्रचण्ड राशि अखण्ड रूप से नीचे की ओर दौड़ रही है। यदि किसी प्रकार नीचे का गर्त ऊपर से प्राप्त जलराशि को अपने पास रख सके और इस प्रकार अपनी सतह को ऊँचा उठाकर ऊपरी भाग की

सतह के समकक्ष आ जाय, तो फिर किसी प्रकार का रव, कोई कोलाहल या हलचल नहीं रह जायगी।

बहुत कुछ इसी प्रकार, मानव-जीवन भी "उपर" से एक सम्भार प्राप्त कर रहा है पर हमारे आधान उस सम्भार को अपने लिए सुरक्षित रखकर उच्च स्तर तक उठ जाने की कला को नहीं जानते। यदि उस सम्भार को सुरक्षित रखकर हम ऊपर के स्तर तक उठ सकते और उस सम्भार के उत्स से एकरूप हो सकते, तो हमारे अन्तराल की सारी हलचल, सारा क्षोभ, सारी अस्थिरता समाप्त हो जाती। यदि मनुष्य पूर्णतः शान्त होना चाहता है तो उसे ईश्वर से ऐक्य प्राप्त करना चाहिए। जब तक वह नीचे की सतह पर है, जब तक अपनी सारी शक्ति वह बाहर के संसार में खर्च कर रहा है। संक्षेप में, जब तक वह नहीं जानता कि जो सम्भार उसे अनवरत रूप से प्राप्त हो रहा है उसका उपयोग वह किस प्रकार करे, तब तक वह दुःख पायेगा ही और तब तक शान्ति और स्थिरता का अभाव रहेगा।

अतएव, बन्धुओ, यदि आप चाहते हैं कि मैं "मन शान्त कैसे हो ?" इस प्रश्न का उत्तर दूँ, तो कहूँगा कि इसका केवल एक ही उपाय है—मनुष्य को ईश्वर के समकक्ष उठा लाना। हम ईश्वर की अनुभूति करें; हम यह जान लें कि हमारी सारी इन्द्रियाँ, मन की प्रवृत्तियाँ, और यही क्यों, हमारे जीवन का कण-कण ईश्वर से पूरी तरह उद्दीप्त और सम्पृक्त है; हम ईश्वरस्वरूप हैं। पूर्णता का शाश्वत उत्स वह प्रभु, अनन्त आनन्द, ज्ञान और सत्य का चिरन्तन आधार

वह ईश्वर हमारी प्रकृत आत्मा है। हमारा लक्ष्य हो—ईश्वर को प्राप्त करना। यदि हम उसे भूल जाते हैं और अपनी जीवन-योजना से ईश्वर को बहिष्कृत कर देते हैं तो भले ही कभी-कभार अनजाने उस दैवी उत्स का सस्पर्श प्राप्त करने से तनिक सी शान्ति और स्थिरता पा लें, किन्तु जब तक हम ईश्वर से संयुक्त नहीं हो जाते, जब तक हम पूरी तरह भगवद्भाव से उद्भासित नहीं हो उठते, तब तक अखण्ड शान्ति और स्थिरता को प्राप्त नहीं कर सकते।

सामान्य व्यक्ति के लिए यह शान्तभाव विशेष महत्त्व नहीं रखता। वह इसे प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता। मैं समझता हूँ, आप मुझसे इसमें सहमत होंगे। अधिकांश लोग इन्द्रियों के विषय-भोगों की ओर छूटे जा रहे हैं और इन्द्रियों को तृप्त करने की उत्कटता में, उस क्षणिक उत्तेजना की तन्मयता में उन्हें शान्ति का अभाव ही नहीं खलता। जब विषय-भोगों में कुछ बाधा आती है तभी उन्हें वह अभाव खलता है। तब वे सोचते हैं कि यदि उनका मन कुछ अधिक स्थिर होता तो उन्हें अभीष्ट विषयों की प्राप्ति में सहायता मिल जाती। आप लोगों ने यह अनुभव किया होगा कि जब हताशा, दुश्चिताएँ, भय, और विषाद हमें घेर लेते हैं तब हम शान्ति और स्थिरता के सुखकर स्पर्श की आवश्यकता महसूस करते हैं। अतः हम देखते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में शान्ति और स्थिरता का मतलब हमारे लिए भौतिक विषयों की प्राप्ति का साधनमात्र होता है।

उपर्युक्त अर्थ में यह सत्य है कि मनुष्य शान्ति और

मनःस्थैर्य चाहता है पर प्रश्न यह है कि किसलिए चाहता है ? क्या इसलिए कि वह शान्ति और स्थिरता की प्राप्ति को जीवन का ध्येय मानता है ? नहीं। साधारणतया, लोग इन गुणों की इच्छा इसलिए करते हैं जिससे उनकी बुद्धि-वृत्ति तीक्ष्ण बने और वे अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकें। इससे हमें कुछ शक्ति मिलती है पर अर्थहीन बातों के पीछे दौड़कर हम उसे नष्ट कर देते हैं। किंतु अन्ततोगत्वा एक समय आता है जब हम अपना दृष्टिकोण बदल लेते हैं; तब शान्ति और स्थिरता को भौतिक विषयों की प्राप्ति का साधन नहीं मानते बल्कि जीवन का लक्ष्य ही समझते हैं। जब मनुष्य शान्ति और मनःस्थैर्य की चरम अवस्था को पा लेता है अर्थात् जब वह लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है, तो वह वज्रघोष से कह सकता है, "मैं लाभ या हानि की परवाह नहीं करता। मैं केवल पूर्ण शान्ति और स्थैर्य की कामना करता हूँ।" इस अवस्था में मनुष्य का बोध ईश्वरीय बोध के प्रायः समकक्ष आ जाता है। वह अनुभव करता है कि और कुछ प्राप्त करने का बाकी नहीं रहा—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'। उस चरम अवस्था का वर्णन पूर्ण शान्ति और मनःप्रसाद के रूप में किया जा सकता है। तब मनुष्य की आत्मा स्वर्गिक आनन्द का अनुभव करती है। किंतु कहना न होगा कि ऐसी अवस्था बिरलों को ही मिल पाती है। शेष लोग शान्ति और स्थिरता पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और उनमें अधिकांश उसकी प्राप्ति इसलिए करना चाहते हैं जिससे

उन्हें अभीष्ट विषयभोग मिल सकें।

अच्छा, मान लें कि आप इन गुणों का उपार्जन भौतिक विषयों की प्राप्ति के साधन के रूप से करना चाहते हैं, तो भी आपको उन कारणों को विश्लेषण करके खोज निकालना चाहिए जो बाधकस्वरूप सामने आते हैं। मान लीजिए, आप एक सफल व्यापारी होना चाहते हैं। आप अधिक कुशलता और सामर्थ्य प्राप्त करना चाहते हैं। इस समय यही आपका लक्ष्य है। यदि आप देखें कि व्यापारिक संबन्धों में थोड़ीसी निराशा आपके मन को चंचल कर देती है अथवा व्यापार

[illegible] कर देती है तो आपको चाहिए कि आप इन प्रतिक्रियाओं का नियमन करें, अपने मन के इस क्षोभ को दूर करने का प्रयत्न करें और इस प्रकार अपनी दृष्टि को संतुलित करने का प्रयास करें। यह कर सकने के लिए आपको आत्मविश्लेषण करना होगा। क्या कारण है कि तनिक सी निराशा या बाधा आपके मन को विक्षुब्ध कर देती है? आपके इस विक्षोभ और क्रोध के पीछे कौन सी बात है? मन के विक्षोभ का सबसे पहला और शायद सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है भय। यह भयरूपी शत्रु हमारे मानस में जिस प्रकार उत्तेजना का निर्माण करता है, उतनी उत्तेजना और किसी कारण से नहीं होती। सूक्ष्मता से आत्मविश्लेषण कीजिए; उन परिस्थितियों का विचार कीजिए जब आप क्षुब्ध हो गए थे, जब आपकी विचारलहरी कुण्ठित हो गई थी, जब आप उत्तेजित और क्रोधित हो गए थे। कारण को खोजते हुए और अधिक

गहरे डुबकी लगाइए। आप देखेंगे कि वह भय ही था जो मन के किसी कोने में छिपा हुआ था — पैसा खोने का भय, मित्र या प्रतिष्ठा खोने का भय, नाम-यश खोने का भय, आदि-आदि। भय ने आपको कमजोर बना दिया और आपके मन में एक भीषण आँधी वहा दी; उसने आपकी शक्ति को, आपकी शांति और सामर्थ्य को सोख लिया।

यदि हम यह विचार करें कि भय किससे उत्पन्न होता है तो पायेंगे कि संतुलन का अभाव ही भय का कारण है। एक ठोस उदाहरण लें। कल्पना कीजिए कि पानी का जहाज कहीं दुर्घटनाग्रस्त हो गया है और यात्री अत्यन्त उत्तेजित हैं। वास्तव में वे भय से ही इतने घबराये हुए हैं। वे सोच रहे हैं कि उनका जीवन कितना अमूल्य है और वे उन आसक्तियों का ख्याल कर रहे हैं जिनको वे यहीं छोड़ जायेंगे। क्या आप सोचते हैं कि वे किसी प्रकार शांति और मनःस्थैर्य धारण कर सकेंगे ? भले ही ऊपर से वे वैसा करते दिखें, पर मैं कहूँगा कि उन्हें अपने जीवन से हाथ धोने का भय है और उनके भीतर एक भयानक प्रलय मचा हुआ है। इस दल में हम एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें जो ईश्वर के भाव में तन्मय है, जो सोचता है कि वह ईश्वर से एक है और ईश्वर की शक्ति ही उसके माध्यम से प्रकट हो रही है। वह जानता है कि मृत्यु का तात्पर्य रूप का नाशमात्र है और यह मृत्यु भी ईश्वर का ही एक रूप है। ऐसा व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में मन की स्थिरता और शांति को नहीं खोयेगा क्योंकि उसमें भय का नितान्त

अभाव है। वह ईश्वर से संयुक्त है। वह जानता है कि कोई चीज उससे दूर नहीं हो सकती। परन्तु जब हम जड़ पदार्थ को अपना ईश्वर बना लेते हैं और इन्द्रियों की उत्तेजना मात्र के लिए जीवित रहते हैं तो मृत्यु खूँखार भेड़िये के समान हमारा पीछा करती है।

एक बात है, मनःस्थैर्य के भी विभिन्न स्तर हैं। एक व्यक्ति ऐसा हो सकता है जिसमें मनःस्थैर्य बिलकुल न हो, दूसरे व्यक्ति में वह कुछ मात्रा में हो और तीसरा व्यक्ति अनन्त शांति और स्थिरता को प्राप्त हो चुका हो अर्थात् ईश्वर भाव में प्रतिष्ठित हो चुका हो। अच्छा, इस विभिन्नता का क्या कारण है? ईश्वरानुभूति अथवा पूर्णता की मात्रा ही इस भेद का कारण है। ऐसा व्यक्ति जिसने पूर्णता का अनुभव कहीं नहीं किया जब देखता है कि उसकी आसक्ति और सत्ता पर चोट पहुँच रही है तो घबरा उठता है, क्योंकि वह सोचता है कि आसक्ति और सत्ता ही उसे सन्तोष और आनन्द प्रदान कर सकती है। वह भय और घबराहट से उत्तेजित हो जाता है और संभव है अपना संतुलन पूरी तरह खो बैठे। मान लीजिए कि आप अपने को उस अवस्था में पाते हैं। मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहूँगा। आप इन बातों पर इतने निर्भरशील क्यों हैं? बाहरी दुनिया में अपने संपर्कों और अनुभवों से भले ही आप शांति और स्थिरता पाने की भरसक कोशिश करें पर ये सारे प्रयत्न अकारथ ही सिद्ध होंगे। क्या आप ऐसी कोई घटना बता सकते हैं, जब बाहरी दुनिया ने आपको

संतोष और शांति दी हो ? क्या आप सोचते हैं कि आपका वैभव कभी आपको शाश्वत संतोष दे सकता है ? मुझे तो बहुत संदेह है। तथापि आपके ही भीतर ऐसा कुछ है जो आपको वास्तविक अर्थ में संतुष्ट कर सकता है और आपकी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं। मेरी इन बातों को सुनकर हो सकता है कि आप रुकें और उन पर थोड़ा विचार करें, परन्तु संसार के संबन्धों में जब आप बारंबार हताश होते हैं, जब दुख और विषाद, आँसू और रुदन के काले बादल आपके जीवनसूर्य को ढक लेते हैं, तभी आप भीतर की ओर, शान्ति के उस शाश्वत धाम की ओर मुड़ने का सबक सीखते हैं।

जो मध्यम कोटि के व्यक्ति हैं, जो थोड़ा-थोड़ा शान्ति का अनुभव करते हैं, उन्हें इस बात का कुछ निश्चय अवश्य है कि भीतर वह शान्ति का स्रोत — आनन्दमय आत्मा — है; परन्तु वे पूरी तरह उसकी शरण में जाने में समर्थ नहीं हुए हैं। यदि ऐसा व्यक्ति उस कार्य में सफल नहीं होता जिसकी सफलता से उसे आनन्द मिलने की आशा थी, यदि वह बाधाओं से घिर भी जाता है तो भी वह जानता है कि उसके लिए आश्रय की एक जगह है, भीतर वह तत्त्व है जिसकी शरण वह जा सकता है और इसलिए वह पहले व्यक्ति के समान विक्षुब्ध नहीं होता। जो लोग इस मध्यम अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं उनके लिए यह एक महान् लाभ की बात है। यह ठीक है कि

उन्होंने लक्ष्य को अभी नहीं प्राप्त किया पर तो भी कम से कम उन्हें अपने भीतर के उस अनन्त शक्ति स्रोत पर भरोसा तो है और यह अपने आपमें एक बड़ी उपलब्धि है। यदि आप अपने को इस श्रेणी के अन्तर्गत पाते हैं, यदि आप अनुभव करते हैं कि बाधक परिस्थितियों में भी आप शान्त और स्थिर रह सकते हैं अथवा यदि भाग्य से इस संसार के आपके सारे संबन्ध शांति और आनन्द से भरे हैं, तो भी आपको सावधानी से परिस्थिति का विश्लेषण करना चाहिए। आपको स्मरण रखना चाहिए कि जो आनन्द आप अनुभव कर रहे हैं वह आपके वैभव और संबन्धों से उत्पन्न नहीं हुआ है, न ही आपकी संपदा, आपके आत्मीय-स्वजन अथवा आपके सुन्दर बच्चों ने उस आनन्द को जन्म दिया है। आपका आनन्द सदैव आपके भीतर से आया है। वह तो आपके भीतर का दैवी भाव ही था, जो बाहर विषयों में प्रतिबिंबित हो रहा था, जिसने आपको संतोष और आनन्द का अनुभव प्रदान किया। भले ही आप यह अनुभव करें कि आपके भीतर ऐसा कुछ है जो आनन्द की समस्त घटनाओं में प्रकट हो रहा है, भले हो आप सोचें कि आपने कुछ सीमा तक भय को जीत लिया है और भले ही आप विश्वास करें कि आपकी चेतना कुछ ऊर्ध्वमुखी हो गई है तथापि यदि कोई घटना आपके प्रिय विषयों को आपसे छीन ले जाना चाहे तो आप प्रतिवाद करेंगे और घबरा जायेंगे। इसका अर्थ यह है कि आपने अभी पूर्ण शरणागति की अवस्था प्राप्त

नहीं को, आपने ईश्वर का यथार्थ संस्पर्श प्राप्त नहीं किया और उनसे अटूट संबन्ध आपका नहीं जुड़ा।

मध्यम कोटि के व्यक्तियों की यही दशा होती है। उन्हें भी भय को जीतने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। अपने भय का विश्लेषण करो और उस परमात्माका सान्निध्य अनुभव करते हुए उसे दूर करने का प्रयास करो। केवल यही एकमात्र उपचार है। यदि तुम मृत्यु से डरते हो तो अपनी आत्मा को ईश्वर के सन्निकट ले जाओ। यह जान लो कि तुम्हारी आत्मा ईश्वर का एक स्फुलिंग है जिसे मृत्यु का शीत कम्पन बुझा नहीं सकता। यदि तुम इस प्रकार विचार करो तो फिर मृत्यु अथवा अन्य किसी से डरने का कोई कारण नहीं रहेगा। मैंने ऐसे लोगों को देखा है जो परमात्मा का संस्पर्श पाकर मृत्यु को भी धमकी देने में समर्थ थे। मैंने अपनी आँखों से यह देखा है। मैंने पहले स्वामी तुरीयानन्दजी का उल्लेख किया है। वे श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्यों में से थे। उन्होंने भय को पूरी तरह जीत लिया था। मृत्यु उनके लिए मृत्यु नहीं रह गयी थी। उन्होंने तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों ने मृत्यु के सन्दर्भ में भय को किस प्रकार जीता था, इसका रहस्य यह है कि उन्होंने अपनी बुद्धि के स्तर को ईश्वर के समकक्ष उठा लिया था।

इस दैवी उत्स परमात्मा के जितने निकट तुम अपने आपको ले जाओगे, अपने सम्बन्धियों, धन-सम्पत्ति, तारुण्य, यहाँ तक कि जीवन को भी खोने का तुम्हारा भय उतना ही कम होता जायगा। तब तुम शान्ति और मन की स्थिरता

प्राप्त कर सकोगे और जीवन का उपभोग करने में समर्थ हो सकोगे। इसके विपरीत, यदि तुम भय से आक्रान्त हो और सोचते हो कि तुम अपनी तरुणाई, अपने परिवार और अपनी समृद्धि का आनन्द उठा सकते हो, तो मैं कहूँगा कि तुम्हारा यह आनन्द अत्यन्त कच्चा है; वह किसी भी क्षण उड़ सकता है। वह अनित्य है।

अतएव, संसार के विभिन्न सम्बन्धों के माध्यम से हमें अपने आपको सदासर्वदा उस परमात्मा के सन्निकट बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी हम भय को जीत सकते हैं। जब तक तुम अपने सम्बन्धियों में ईश्वर को नहीं देखते, तब तक वे भय के कारण ही हैं। पर जब तुम उनमें, भले ही अस्पष्ट रूप से क्यों न हो, उस परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखते हो, तुम अधिक शान्ति, समता और स्थिरता के अधिकारी हो जाते हो। मनुष्य पैसे से समृद्धि और आराम पाता है तथा अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है। यदि तुम अपने धन को ईश्वर से विलग मानते हो, तो तुम्हें भय होगा। तुम्हारे मन के किसी अज्ञात कोने में भय का भाव भरा रहेगा। परन्तु यदि तुम उसे ईश्वर का मानते हो और यह समझते हो कि तुम ईश्वर के मुनीम हो, तब तुम उसके खो जाने के भय से पीड़ित नहीं होगे। तब ईश्वर तुम्हारे लिए धन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जायगा। इस भौतिक संसार में अपने अनुभव में आनेवाली प्रत्येक घटना के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन लागू हो सकता है। हमें ईश्वर के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

उपनिषदों में बताया गया है कि दुःख का एकमात्र कारण अज्ञान है। अज्ञान तुम्हें अपने देवत्व का, ईश्वरत्व का विस्मरण करा देता है और वह अनेकों विघ्न-बाधाओं के रूप में अपना विस्तार कर लेता है। भय अज्ञान की प्रथम सन्तति है। जब तुम सत्य को नहीं जानते होते तो भय आकर तुम्हारा गला दबोच लेता है और जीवन को विषमय बना देता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भगवान् के विस्मरण से भय उपजता है। भय से कई मायावी रूप खड़े होते हैं। मूलतः वह एक ऐसा मायावी रूप उत्पन्न करता है जिसे हम अहं-भाव कहते हैं। यह अहं-भाव मायावी रूप ही है। जिसे हम अपना आप कहते हैं, उसमें सत्यता नहीं है; सत्यता तो ईश्वर है। अज्ञान भय को जन्म देता है और भय से इस मिथ्या 'अहं-भाव' की उत्पत्ति होती है। इस 'अहं-भाव' में भयकी बहुत सी वृत्तियाँ हैं और उनमें सबसे सूक्ष्म वृत्ति है यह विचार करना कि 'मैं मर्त्य हूँ, मुझे मरना होगा'। यदि तुम अपने आपको अकेला महसूस करते हुए कहो कि "मैं पुरुष (या स्त्री) हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं सुन्दर हूँ, अथवा मैं कुरूप हूँ", तो तुम भय से आक्रान्त हो सकते हो। यदि तुम इस 'अहं-भाव' में एकाकी रहो, तो तुम भय से सतत घिरे रहोगे।

यदि तुम इस भय को दूर करना चाहते हो तो तुम्हें अपने इस 'अहं-भाव' को ईश्वर के साथ आत्मीयता के किसी निश्चित सूत्र में बाँध लेना चाहिए। जब तुम 'मैं हूँ' कहते हो तो इसके साथ ऐसे भी शब्द कहो जो तुम्हें ईश्वर

से जोड़ लें। जैसे-"मैं ईश्वर का बच्चा हूँ, उनका सेवक हूँ, सखा हूँ अथवा भक्त हूँ।" अपने अहं-भावके पीछे इस प्रकार का कुछ सम्बल अवश्य रखो। इससे तुम सुरक्षित रहोगे। याद रखो, यदि तुम एकाकी रहोगे तो भय हरदम बना रहेगा। इस संसार की प्रत्येक वस्तु, आज हो या कल, तुम्हें धोखा दे जायगी, पर वह ईश्वर ऐसा है जो तुम्हारा साथ कभी न छोड़ेगा। चाहे जो हो जाय, पर ईश्वर के साथ तुम्हारा यह सम्बन्ध टूटने का नहीं। ऐसा न सोचो कि तुम्हारे आत्मीय-स्वजन, तुम्हारी सम्पत्ति और तुम्हारे धन-वैभव तुम्हें शाश्वत आनन्द दे सकेंगे। ईश्वर पर निर्भर रहो।

यहाँ एक बात कह दूँ। ईश्वर पर निर्भर रहने का मतलब यह नहीं कि हम अन्य सभी को घृणा की दृष्टि से देखें। घृणा आसक्ति से भी भयंकर है। घृणा से मन में आसक्ति की अपेक्षा अधिक विक्षेप उत्पन्न होता है। सभी प्रकार से ईश्वर पर निर्भर रहो। उन्हें हर वस्तु में विराजमान देखो। विचार करो कि तुम्हारे सारे सम्बन्ध ईश्वर की देन हैं; तुम्हारी सम्पत्ति ईश्वर-प्रदत्त है। एक मित्र तुम्हें सुन्दर सा फूल देता है। फूल का देना महत्त्वपूर्ण नहीं, उस प्रदान के पीछे उसका जो प्रेम है वह महत्त्व का है। फूल तो दो दिन में सूख जाता है, पर प्रेम बना रहता है। हम अपने संबन्धों और धन-वैभव को हमारे प्रति ईश्वर के प्रेम का प्रतीक मानें। ऐसा विचार करने से जीवन आसक्ति, घृणा और भय से मुक्त होता है और जब पूरी तरह ये दोष नष्ट हो जाते हैं तो हमारा मन समता और स्थिरता की अवस्था प्राप्त करता है।

तभी ईश्वर मनुष्य के बोध में अपने को प्रकट करते हैं।

मैंने कई बार तुम लोगों को शान्त, स्थिर सरोवर का दृष्टान्त दिया है, जिसके जल में पूर्ण चन्द्र प्रतिबिम्बित होता है। यदि सरोवर का जल-सतत आन्दोलित है, यदि उसकी सतह पर लहरें लगातार उठ रही हैं, यदि जल फेनिल है तो तुम चन्द्रमा का परछाईं स्पष्ट रूप से न देख पाओगे। ऐसी दशा में तुम क्या करोगे ? क्या चन्द्रमा से प्रार्थना करोगे कि मुझे अपना स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखला दो ? तुम्हारी प्रार्थना अनसुन रह जायगी। चाँद तुमसे कहेगा, "मैं तो सर्वदा यहाँ हूँ। तुम सरोवर के जल को स्थिर और लहरविहीन क्यों नहीं बनाते ?" यह सरोवर मानो तुम्हारा मन है। यदि तुम मन को हरदम विचलित और चंचल बनाये रखो और ईश्वर से उनके दर्शन के लिए प्रार्थना करो तो ईश्वर ऐसा कहेंगे, "मैं तो तुम्हारे मन में अपने आपको सदा-सर्वदा प्रतिबिम्बित कर रहा हूँ, परन्तु तुमने अपने मन को शान्त और स्थिर बनाये रखने के लिए कुछ भी नहीं किया है। अतः तुम वहाँ मुझे देखने की आशा कैसे कर सकते हो ?" ईश्वर तो हमारे भीतर हैं ही। हमें उनके दर्शन पाने के लिए प्रार्थना न करनी होगी। मेरे कहने का अर्थ आप ऐसा न लगाएँ कि प्रार्थना से कोई लाभ नहीं। वह तो दूसरी बात है। यहाँ पर मैं एक अत्यन्त महत्त्व की बात पर जोर दे रहा हूँ, जिसे हम सामान्यतया उपेक्षित कर देते हैं; और वह है — मन में शान्ति और स्थिरता की प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता। यदि आप इसे अपने सारे प्रयत्नों का लक्ष्य

बनाएँ और यदि जीवन की सफलता इससे मापें कि आप किस मात्रा में मनःस्थैर्य प्राप्त करने में सफल हुए हैं, तो अपने जीवन में उस देवत्व के प्रतिविम्ब की अनुभूति करना अधिक कठिन न होगा।

अतएव जो व्यक्ति ईश्वर-अनुभूति को जीवन का लक्ष्य मानकर चलता है, उसे शान्ति और आनन्द की अवस्था प्राप्त होती है। यदि हम उस लक्ष्य की उपेक्षा कर दें और प्रकृति को ही ईश्वर मान लें तथा अपनी इन्द्रियों को उसका पुजारी, तो जीवन में चिरस्थायी शान्ति, यथार्थ समत्व अथवा पूर्ण स्थैर्य का उपभोग कर सकना सम्भव न होगा। यदि हमें इस तथ्य की धारणा हो गयी है तो हम भाग्यवान् हैं, क्योंकि इस सत्य की धारणा भी कठिनाई से हो पाती है। पर हमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए — हम उन लोगों के प्रति उपेक्षा या आलोचना का भाव मनमें ना सँजोयें जिन्हें हमारी तरह धारणा नहीं हुई है। प्रत्येक को अपने कर्मों का फलभोग करना ही होगा। यदि तुम इस सिद्धान्त को सबके सामने उद्घोषित करो तो लोग तुम पर हँसेंगे। वह तो जीवन के अनुभव हैं जो मनुष्य में इस प्रकार की धारणा उपजाते हैं। तुम ऐसे लाखों लोग पाओगे जो 'शान्ति' और 'स्थिरता' का अर्थ नहीं समझते। 'सन्तोष' शब्द उनके ज्ञान की परिधि में नहीं आता! पर इसका मतलब यह नहीं कि हम उनकी आलोचना करें। मैं ऐसे व्यक्ति से कहूँगा, "मेरे मित्र! यदि तुम सोचते हो कि तुम्हारे स्वजन, तुम्हारा धन और तुम्हारा वैभव तुम्हें आनन्द प्रदान कर सकता है तो बढ़े चलो, उनका

अनुभव लो, उनका उपभोग करो और देखो कि वे यथार्थतः तुम्हें क्या देते हैं। अन्त में तुम यह अनुभव करोगे कि वे तुम्हें वह नहीं दे सकते जिसकी तुम्हें चाह है। तब तुम अन्दर की ओर मुड़ोगे।"

जिस व्यक्ति ने जीवन के इस लक्ष्य की धारणा कुछ अंश तक कर ली है, उससे मैं कहूँगा, "भाई, यदि तुम सचमुच जीवन में स्थायी शान्ति पाना चाहते हो तो ईश्वर के साथ अपने को संयुक्त कर लो। अनुभव करो कि ईश्वर ही तुम्हारे विचारों के प्रेरक हैं और वह ईश्वर ही हैं जिनका संस्पर्श भौतिक संसार के माध्यम से हो रहा है। अपने को ईश्वर के विचार से पूरी तरह भर लो। यदि तुम अभी उस उत्स के स्तर तक नहीं पहुँचना चाहते, यदि तुम अभो तनिक चांचल्य का उपभोग करना चाहते हो, तो अवश्य करलो पर यह जान लो कि वह तुम्हारे प्रभु का ही एक आभास है। अपने ईश्वर के साथ हर एक वस्तु को जोड़ लो। तब तो जीवन के उपभोगों के बीच से भी तुम ईश्वर के घनिष्ठ सम्पर्क में बने रहोगे।"

तथापि एक दिन ऐसा आयेगा जब तुम रुकोगे और विचार करोगे और कहोगे, "अब तो मैं केवल ईश्वर को ही चाहता हूँ — वह ईश्वर जो समस्त उपाधियों से परे है, जो किसी प्रकार सीमाबद्ध नहीं है। मैं ईश्वर में ही डूबे रहना चाहता हूँ; मैं अपने ईश्वर से अलग अहंभाव नहीं रखना चाहता। मैं तो अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द और अनन्त पूर्णता की अवस्था की कामना करता हूँ।" भले ही

आज तुम उसके लिए अपने को तैयार न पाओ, पर वह अवस्था आने ही वाली है। आज भी जिस आनन्द का उपभोग तुम इस भौतिक संसार के माध्यम से कर रहे हो, यदि तुममें यह धारणा दृढ़ हो जाय कि उस आनन्द का उपभोक्ता — तुम्हारी आत्मा — ईश्वर ही है, तो जीवन का उपभोग स्वस्थ उपभोग बन जाता है और आसक्ति से मुक्त हो जाता है। तब भोग के विषयों से कोई डर नहीं रह जाता, उनके प्रति कोई आसक्ति नहीं रह जाती और इसलिए आनन्द की मात्रा भी स्वाभाविक ही बढ़ जाती है। तब मन में अधिक शान्ति और स्थिरता विराजने लगती है। हम अपने मानसिक स्तर को ईश्वर की ओर जितना उठाते हैं, हम उतना ही अधिक मनःस्थैर्य का अनुभव करते हैं।

मनुष्य और ईश्वर की चेतना को आपस में मिलना चाहिए। इसके सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं है। जब चेतना के दोनों स्तर एक हो जाते हैं, जब मनुष्य का "मैं" ईश्वर में पूरी तरह डूब जाता है और जब केवल एक ईश्वर ही, बिना किसी उपाधि या रूप के, बिना किसी सीमा के, विराजमान रहता है, तब जीवन की पूर्णता सम्पादित होती है। वह अनन्त आनन्द की अवस्था है; शान्ति और स्थैर्य की अन्तिम सीमा है और उसे हम चरम पूर्णता कह सकते हैं।

—'वेदान्त एंड दि वेस्ट' (नवम्बर-दिसम्बर १९६४) से साभार।

स्वामी रामकृष्णानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

(युगावतार श्रीरामकृष्णदेव अपने अंतरंग शिष्यों के जीवन-प्रयोजन को सहज ही जान जाया करते थे। प्रत्येक शिष्य के विषय में उन्होंने भविष्यवाणियाँ की थीं जो यथा-समय पूरी तरह से चरितार्थ हुईं। स्वामी रामकृष्णानन्द के आंतरिक गुणों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा था कि वे पूर्वजन्म में देवदूत ईसा के सहचर थे। स्वामी रामकृष्णानंद भक्ति और निष्ठा के जीवन्त विग्रह थे। इसके साथ ही वे महान् कर्मठ पुरुष थे। गीता में स्थितप्रज्ञ पुरुष के जो लक्षण बताये गये हैं वे स्वामी रामकृष्णानन्द के जीवन में पूरी तरह से उतरे थे। उनका जीवन और कार्य यह बताता है कि किसप्रकार ईश्वर के प्रति सर्वात्म-भाव से समर्पित होकर कर्त्तव्य-कर्मों का सम्पादन किया जा सकता है।)

(स्वामी रामकृष्णानन्द का पूर्व नाम शशिभूषण चक्रवर्ती था। वे १३ जुलाई सन् १८६३ को हुगली जिले के एक कट्टर धर्मनिष्ठ ब्राह्मण-परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता श्री ईश्वरचन्द्र चक्रवर्ती विधि-विधानों के कट्टर हिमायती और काली के उपासक थे। यथासमय शशि को विद्याध्ययन करने के लिये कलकत्ते के एक स्कूल में भेजा गया। जिससमय वे देवमानव श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आये तब वे कलकत्ता

के मेट्रोपोलिटन कालेज में पढ़ रहे थे। वे अपने चचेरे भाई शरतचन्द्र चक्रवर्ती के साथ ब्राह्म-समाज की प्रार्थना-सभाओं में सम्मिलित हुआ करते थे और केशवचन्द्र सेन की वक्तृता ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था।

एक दिन शशिको शरत से ज्ञात हुआ कि दक्षिणेश्वर में एक महान् संत रहते हैं जिनके दर्शन से केशवचन्द्र सेन बड़े प्रभावित हुए हैं। उन दोनों ने एक दिन उनके दर्शन के लिये दक्षिणेश्वर जाने की योजना बनायी। सन् १८८३ के अक्टूबर के एक दिन शशि और शरत कुछ अन्य मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर पहुँचे। उस समय श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में ही थे। विद्यार्थियों को देखकर श्रीरामकृष्ण उनसे बड़ी आत्मीयता से मिले और उनसे वैराग्य और आध्यात्मिक जीवन की महत्ता पर चर्चा करने लगे। अपने साथियों में शशि बड़े थे तथा वे एफ. ए. की तैयारी कर रहे थे। अन्य विद्यार्थी मेट्रिक की पढ़ाई में लगे हुए थे। श्रीरामकृष्णदेव ने शशि से पूछा कि वे ईश्वर के निराकार रूप पर विश्वास करते हैं अथवा साकार रूप पर। तब शशि ने उन्हें बताया कि उनके लिये इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है क्योंकि वे यही नहीं जानते कि ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं। श्रीराम-कृष्णदेव शशि की सत्यवादिता को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें अपने अलौकिक प्रेम-पाश में बाँध लिया।

जैसे-जैसे शशि और शरत दक्षिणेश्वर में अधिकाधिक आने लगे, वैसे-वैसे वे श्रीरामकृष्णदेव की महानता से अभि-भूत होते गये। देवमानव के दर्शन-श्रवण से उनके जीवन

में आध्यात्मिकता की वेगवती सरिता प्रवाहित होने लगी और श्रीरामकृष्णदेव उनके जीवन के चरम आकर्षण बन गये। यद्यपि शशि पढ़ने-लिखने में बड़े तेज थे किन्तु श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत संस्पर्श से उनके हृदय में आध्यात्मिकता का जो प्रवाह उमड़ा, उससे उन्हें कालेज की पढ़ाई से अरुचि होने लगी। वे अपना सारा समय श्रीरामकृष्णदेव के निर्देशानुसार आध्यात्मिक साधनाओं में व्यतीत करने लगे। एक दिन वे दक्षिणेश्वर में फारसी कवियों की पुस्तक पढ़ने में मग्न थे। श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें दो-तीन बार पुकारा किन्तु वे अध्ययन में इतने तल्लीन थे कि उनकी आवाज सुन नहीं पाये। जब वे बाद में श्रीरामकृष्णदेव के समीप पहुँचे तो उनके पूछने पर शशि ने उन्हें बताया कि वे अध्ययन कर रहे थे। इसपर श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें प्रबोधित करते हुए कहा, "यदि तुम पढ़ाई के कारण अपने कर्त्तव्य को भुला दोगे तो तुम्हारी सारी भक्ति जाती रहेगी।" शशि ने श्रीरामकृष्णदेव के मन्तव्य को भली भाँति हृदयंगम किया और वे तत्काल अपनी पुस्तक गंगा में फेंक आये।

जिस समय शशि बी. ए. फाइनल में थे, उसी समय श्रीरामकृष्णदेव गले की व्याधि से ग्रस्त हो गये। स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से उन्हें दक्षिणेश्वर से श्यामपुकुर ले जाया गया। अब शशि के सामने पढ़ाई और गुरु-सेवा में से किसी एक का चुनाव करना था। उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के गुरु-सेवा को अपना लक्ष्य बना लिया और श्यामपुकुर में एकाग्रचित्त से श्रीरामकृष्णदेव की सेवा में जुट गये।

जब श्रीरामकृष्णदेव काशीपुर-उद्यान में निवास कर रहे थे तब भी शशि उनकी परिचर्या में जुटे हुए थे। श्रीरामकृष्णदेव के अन्य बाल-भक्त भी वहाँ उपस्थित थे किन्तु शशि का सेवाभाव बड़ा विलक्षण था। गुरु की सेवा ही उनके लिये सबसे बड़ी आध्यात्मिक साधना थी। यही कारण था कि अन्य गुरुभाई जहाँ गुरु-सेवा के साथ-साथ कठिनतर आध्यात्मिक साधनाओं में भी लगे हुए थे, वहाँ शशि एकात्म-भाव के साथ श्रीरामकृष्णदेव की सेवा में तल्लीन थे। प्रभु की कृपा से उन्हें बलिष्ठ शरीर मिला था और उनका मन भी उतना ही दृढ़ था। श्रीरामकृष्णदेव के प्रति उनके हृदय में अगाध भक्ति-भावना थी और वे श्रीरामकृष्णदेव की आखिरी साँस तक उनकी सेवा में लगे रहे। जब श्रीरामकृष्णदेव ने महासमाधि की ओर प्रयाण किया और अन्य भक्त-वृन्द रुदन करने लगे। तब शशि ने उन्हें ताड़ना देते हुए कहा कि श्रीरामकृष्णदेव समाधिमग्न हैं तथा कुछ ही देर में वे प्रकृतिस्थ हो जाएँगे। डाक्टर की जाँच के बाद ही उन्हें यह विश्वास हो पाया कि श्रीरामकृष्णदेव ने अपनी लीला का संवरण कर लिया है।

श्रीरामकृष्णदेव के युवा-शिष्यों के लिये यह घोर निराशा और वेदना का क्षण था। उनके लीलासंवरण की प्रतिक्रिया शशि पर बड़ी तीखी हुई। पहले तो वे उच्च-स्वर में श्रीरामकृष्णदेव की स्तुति-प्रशंसा करने लगे किन्तु जैसे ही उन्हें यह स्मरण आया कि अब उन्हें युगावतार का पार्थिव साहचर्य नहीं मिल पायेगा वैसे ही उनका हृदय

शोक-सागर में डूब गया और वे एक अबोध शिशु के समान रुदन करने लगे। श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत अवशेषों का चयन कर शशि अन्य गुरु-भाइयों के साथ वराहनगर में पहुँचे जहाँ अस्थायी तौर पर मठ बनाया गया था। एक कमरे में श्रीरामकृष्णदेव के पवित्र अवशेषों को प्रतिष्ठित किया गया और सभी गुरु-भाई सत्य का साक्षात्कार करने के लिये शरीर की सुधि बिसारकर आध्यात्मिक साधनाओं में लीन हो गये।

शशि जानते थे कि श्रीरामकृष्णदेव अपने युवा-भक्तों से अत्यधिक प्रेम करते थे। इसलिए शशि अपने गुरु-भाइयों की सेवा में मन-प्राण से लग गये। उनकी तपश्चर्या का काल बड़ा तितिक्षामय था। श्रीरामकृष्णदेव के भक्त आध्यात्मिक साधनाओं से शरीर को सुखा डालने में तत्पर थे। शरीर का उनके सामने कोई महत्त्व नहीं था। किन्तु शशि उनकी रक्षा के लिये कटिबद्ध थे। वे अपने गुरु-भाइयों के भरण-पोषण के लिये स्कूल में मास्टरी करने लगे। उन्होंने अपने गुरु-भाइयों से कहा था, "तुम लोग बिना किसी चिन्ता के तपस्या में एकाग्र चित्त से लग जाओ। तुम्हें किसी भी चीज की फिक्र करने की जरूरत नहीं है। मैं भीख माँग कर भी तुम लोगों का भरण-पोषण करूँगा।" शशि के इसी अपूर्व स्नेह का स्मरण करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "अहा! शशि में लक्ष्य की चेतना कितनी दृढ़ थी! वह हम लोगों की माता के समान था। उन दिनों हम लोग तीन बजे रात को उठ जाते थे और स्नानादि से निवृत्त होकर

मंदिर में जप-ध्यान में लीन हो जाते थे। कभी-कभी हमारी साधना चार पाँच बजे शाम तक चला करती थी। शशि तब तक हमारे उठने की प्रतीक्षा करते हुए भूखा-प्यासा बैठा रहता था और आवश्यकता पड़ने पर हमें जबरदस्ती उठाकर खिलाया करता था। तब संसार की भला किसे चिन्ता थी ?"

वराहनगर मठ में स्थायी रूप से निवास करने के कारण श्रीरामकृष्णदेव के युवा-भक्तों के परिवार वाले बड़े चिन्तित हो उठे। वे अपने पुत्रों को वापस ले जाने के लिये भरसक प्रयत्न करने लगे पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। शशि के पिता भी वहाँ पहुँचे। पहले तो उन्होंने शशि को समझाया पर कोई प्रभाव न पड़ते देखकर वे गिड़गिड़ाने और रोने लगे। पर शशि अविचलित ही रहे। उनके डराने-धमकाने पर शशि ने कहा, "संसार और घर मुझे शेरों की माँद के समान लगते हैं।" थककर उनके पिता भी लौट गये। इस-प्रकार परिजनों से मुक्त होकर सभी गुरु-भाइयों ने संन्यास लेने का विचार किया और एक दिन नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में संन्यास-धर्म में दीक्षित हुए। इसी समय नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानन्द बने और शशि ने स्वामी रामकृष्णानन्द का नाम ग्रहण किया।

वास्तव में नरेन्द्रनाथ स्वयं स्वामी रामकृष्णानन्द का अभिधेय प्राप्त करना चाहते थे किन्तु उन्होंने शशि को ही इस नाम का वास्तविक अधिकारी समझा। स्वामी राम-कृष्णानन्द का श्रीरामकृष्णदेव के प्रति अगाध प्रेम था। उनके

लीला-संवरण के उपरान्त भी स्वामी रामकृष्णानन्द के प्रेम में व्यवधान या अन्तर नहीं आ पाया था। वे श्रीरामकृष्ण की जीवन्त उपस्थिति की चेतना से युक्त थे और उनके पुनीत अवशेषों की सेवा ठीक उसीप्रकार किया करते थे जैसे वे उनकी जीवितावस्था में करते थे। अन्य गुरु-भाई मुक्त संन्यासी का जीवन बिताने के लिये दूर-दूर के स्थानों की यात्रा में निकल रहे थे किन्तु स्वामी रामकृष्णानन्द के लिये तीर्थाटन में कोई आकर्षण नहीं था। वे श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत अवशेषों से घनिष्ठ रूप से युक्त हो गये थे। उन्हें इस बात की कल्पना भी नहीं होती थी कि श्रीरामकृष्णदेव के पूजा-गृह से अधिक पवित्र तीर्थ किसी अन्य स्थान में होगा। श्रीरामकृष्णदेव का मंदिर उनके लिये सर्वोच्च तीर्थ था तथा उनकी पूजा-उपासना उनके लिये सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक साधना थी। वे प्रतिदिन बड़े विधि-अनुष्ठान से श्रीरामकृष्णदेव की पूजा-वंदना किया करते थे। वे प्रातःकाल उनकी पूजा के लिये फूल चुनते थे और फिर अपने हाथों से भोजन बनाकर उन्हें भोग लगाया करते थे।

(स्वामी रामकृष्णानन्द स्वामी विवेकानन्द से भी अगाध स्नेह करते थे। वे उनके प्रत्येक संकेत का पालन करते थे तथा उनके लिये बड़ा से बड़ा कष्ट उठाने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। किन्तु आचार-विचार की दृष्टि से वे बड़े कट्टर थे। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने परिहास में उनसे कहा, "अच्छा, शशि, मैं तुम्हारे प्रेम की परीक्षा लेना चाहता हूँ। क्या तुम मुसलमान की दूकान से मेरे लिये डबल रोटी

खरीदकर ला सकते हो ?" किसी भी आचार-प्रवण व्यक्ति के लिये यह घोर धर्म-संकट की बात हो सकती है किन्तु स्वामी रामकृष्णानन्द ने तत्काल अपनी सहमति व्यक्त की और तदनुरूप कार्य कर दिखाया।

जिस समय स्वामी विवेकानन्द अमेरिका में हिन्दू-धर्म की दुन्दुभि बजाकर भारत लौट आये थे और भारत-भ्रमण करते हुए अपनी क्रांतिकारी योजना का प्रचार कर रहे थे, उससमय मद्रास के निवासियों ने उनसे अनुरोध किया था कि वे मद्रास में एक स्थायी रूप से मठ खोलें और वेदान्त-प्रचार के लिये अपने किसी गुरु-भाई को वहाँ भेजें। उनके अनुरोध को स्वीकार करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा था, "मैं तुम लोगों के बीच एक ऐसे व्यक्ति को भेज रहा हूँ जो तुम्हारे दक्षिण के कट्टरतम व्यक्तियों से भी अधिक कट्टर है किन्तु इसके साथ ही जो ईश्वर की भक्ति और उपासना की दृष्टि से भी अद्वितीय है।" कलकत्ता लौटकर जब उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द से धर्म-प्रचार के लिये मद्रास जाने का अनुरोध किया तब वे तत्काल ही इसके लिये सहमत हो गये। असल में, दक्षिण भारत में हिन्दुत्व का कट्टर रूप ही प्रचलित था। कोई महान्मेधासम्पन्न व्यक्ति ही बिना परम्पराओं को तोड़े वहाँ की प्राचीन धर्म-परम्परा में नवीन प्राणवत्ता का संचार कर सकता था। स्वामी विवेकानन्द जानते थे कि यह महान् कार्य स्वामी रामकृष्णानन्द के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। इसीलिये जब उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द से मद्रास जाने का अनुरोध किया तो वे अपने तीर्थों

के तीर्थ, चिरकालपूजित देवस्थान को भी त्यागकर स्वामी विवेकानन्द की इच्छा की पूर्ति के लिये मद्रास चले आये।

स्वामी रामकृष्णानन्द ईश्वर के समस्त रूपों पर विश्वास करते थे। वे दया और प्रेम के जीवन्त विग्रह थे। श्रीरामकृष्णदेव के कहने के बाद से वे अध्ययन से अरुचि रखने लगे थे। उनका सारा समय ईश्वर की भक्ति और उपासना में व्यतीत होता था। किन्तु अब उन्हें धर्म और दर्शन का प्रचार करना था। इस नयी स्थिति के अनुरूप उनका अपार भावमय हृदय महान् मेधा में बदल जाता है और वे मद्रास की जनता के सामने अगाध भक्ति और तीक्ष्ण बुद्धि से समन्वित होकर उपस्थित होते हैं।

स्वामी रामकृष्णानन्द सन् १८९७ में मद्रास आये। पहले एक छोटे से मकान में उनके निवास की व्यवस्था की गयी। किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद उस मकान को बेचने की घटना घटी। तब स्वामी रामकृष्णानन्द मकान के बरामदे में बैठकर शान्त-भाव से नीलामी देखते रहे। जब एक भक्त ने उनके निवास के विषय में चिन्ता प्रकट की तब उन्होंने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "तुम इसकी चिन्ता क्यों करते हो ? हमें इसकी क्या चिन्ता है कि कौन खरीदता है और कौन बेचता है ? मेरी आवश्यकताएँ बहुत कम हैं। मैं गुरुमहाराज (श्रीरामकृष्ण) के लिये एक छोटा सा कमरा चाहता हूँ। मैं तो उनकी चर्चा करते हुए कहीं भी अपना गुजारा कर सकता हूँ।" यही दृष्टिकोण उनके जीवन के अन्त तक बना रहा।

सन् १९०७ में शहर से कुछ दूर मठ के लिये एक चार-कमरों वाले मकान का निर्माण किया गया। स्वामीजी इसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, "श्रीरामकृष्ण देव के लिये यह एक सुन्दर घर है। उनके वास-स्थान को हमें स्वच्छ और पवित्र बनाये रखना चाहिये। हमें इसकी दीवारों में अपने नाखूनों तक को नहीं गड़ाना चाहिये।" यहाँ भी स्वामीजी की पूजा पूरी निष्ठा से चलती रही। उनकी पूजा का ढंग बड़ा ही विलक्षण था। वे श्रीरामकृष्ण-देव की सेवा जीवित व्यक्ति के रूप में किया करते थे। आध्यात्मिक साधक तो ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये, उनका स्पर्श पाने के लिये विह्वल रहते हैं किन्तु स्वामी रामकृष्णानन्द के लिये यह गौण था। वे केवल एकात्म-भाव से उनकी सेवा करना चाहते थे। प्रातःकाल वे दातून के सिरे को पत्थर से मुलायम करके श्रीरामकृष्ण को अर्पित करते ताकि वे मुखशुद्धि कर सकें। फिर उनके भोजन की तैयारी में लग जाते और एक-एक चपाती सेंककर उन्हें भोग लगाते ताकि रोटियाँ ठंडी न होने पावें। भोजन कराने के बाद वे पंखा झलने लगते जिससे श्रीरामकृष्णदेव विश्राम कर सकें। कभी-कभी गर्मी की रात में वे उठ बैठते और श्रीरामकृष्णदेव के मंदिर में पहुँचकर पंखा करने लगते ताकि श्रीरामकृष्णदेव को गर्मी न लगे। यदा-कदा वे उनसे बातें भी करते। यह सब कार्य इतने स्वाभाविक रूप से होता था कि दर्शक अत्यन्त मुग्ध भाव से उनके कार्यों को देखते रहते थे।

एक दिन उनके पास आने वाले एक विद्यार्थी ने उनपर

आरोप लगाया कि चित्र की पूजा करना मानसिक विक्षेप की निशानी है। तब उन्होंने उसे बड़े प्रेम से समझाया कि उसका विचार सत्य नहीं है। मंदिर की मूर्तियाँ जड़ और मृण्मयी नहीं होतीं प्रत्युत वे जीवन्त और चिन्मयी होती हैं तथा ईश्वरत्व का प्रकाशन करती हैं। इनसे तो व्यक्ति वार्तालाप भी कर सकता है। उनके शब्द इतने प्रभावपूर्ण थे कि उस विद्यार्थी की समस्त शंकाएँ नष्ट हो गयीं।

यद्यपि स्वामी रामकृष्णानन्द विधि-निषेधों का पालन बड़ी कट्टरता से करते थे किन्तु अन्य धर्माचार्यों के प्रति उनका भाव आश्चर्यजनक रूप से उदार था। हिन्दू धर्म के साथ ही उन्हें इस्लाम और ईसाई धर्मों के ग्रन्थों का भी प्रखर ज्ञान था। वे बाइबिल के प्रत्येक वाक्य का प्रतिपादन एक कट्टर ईसाई की तरह कर सकते थे। गुड फ्राइडे के अवसर पर उन्होंने 'क्रसीफिकेशन' पर इतना भावपूर्ण व्याख्यान दिया कि एक विदेशी श्रोता पूरी तरह से अभिभूत हो गया। वह यह निश्चय करने में असफल ही रहा कि स्वामीजी के वचन इतने जीवन्त कैसे हैं। इसीप्रकार एक दिन वर्षा से बचने के लिये कुछ मुसलमान युवक मठ में आये। स्वामीजीने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया और उनसे इस्लाम-धर्म की चर्चा करने लगे। स्वामीजी के ज्ञान को देखकर मुसलमान युवक अत्यधिक प्रभावित हुए और वे अनेक बार उनसे मिले। स्वामी रामकृष्णानन्द की धार्मिक सहिष्णुता अपरिमित थी। जब वे चर्च में जाते तो एक ईसाई के समान प्रार्थना और वंदना करते।

स्वामी रामकृष्णानन्द प्रगल्भ वक्ता नहीं थे किन्तु आध्यात्मिक सत्यों से परिपूर्ण होने के कारण उनकी वाणी अपूर्व प्रभावशीलता से युक्त होती थी। धर्मग्रन्थों पर भाषण देते हुए वे केवल श्लोकों का अर्थ ही नहीं बताते थे प्रत्युत वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों से उसे पुष्ट भी करते थे। उनके शब्दों में तलस्पर्शी गहनता होती थी जिसके श्रवण से श्रोता के समस्त संदेह शान्त हो जाते थे। स्वामीजी अत्यन्त कम शब्दों में निगूढ़तम आध्यात्मिक सत्यों का सरलता से उद्घाटन कर दिया करते थे। एक प्राध्यापक से 'राजनीति और धर्म' पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था, "राजनीति इन्द्रियोंकी स्वाधीनता है किन्तु धर्म इन्द्रियों से स्वाधीनता है।" द्वैतवादी और अद्वैतवादी दर्शन की विवेचना करते हुए उन्होंने कहा था, "द्वैतवाद का उद्देश्य आनन्द है। अद्वैतवाद का लक्ष्य मुक्ति है। पहली विधि में प्रेमी अन्त में अपने प्रेमास्पद को पा लेता है किन्तु दूसरी विधि में दास ही स्वामी बन जाता है। दोनों ही महान् विधियाँ हैं। किसी को एक को त्यागकर दूसरे को नहीं अपनाना चाहिये।" धर्म और विज्ञान के मौलिक अन्तर को बताते हुए उन्होंने कहा था, "बाह्य संसार में मानव का संघर्ष ही विज्ञान है किन्तु आन्तरिक संसार में उसका संघर्ष धर्म है। दोनों ही संघर्ष असंदिग्ध रूप से महान् हैं किन्तु एक का अन्त विफलता में होता है और दूसरे का विजय में। यही मौलिक अन्तर है। जहाँ विज्ञान की समाप्ति होती है वहीं से धर्म का आरम्भ होता है।")

मद्रास में स्वामी रामकृष्णानन्द की दिनचर्या बड़ी कठिन थी। वे अपने हाथों से भोजन बनाया करते थे तथा ठाकुर की पूजा करने के पश्चात् शहर के विभिन्न भागों में व्याख्यान देने के लिये निकल जाते थे। यद्यपि वे कठोर आर्थिक संकट में जीवन-यापन करते थे पर इसका ज्ञान दूसरों को नहीं हो पाता था। यदि कोई व्यक्ति सहायता प्रदान करना चाहता, तो स्वामीजी को उसे स्वीकार करने में बड़ा संकोच होता था। वे पूरी तरह से ईश्वर पर निर्भर थे तथा कहा करते, "मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति भगवान् कर देते हैं।" एक बार श्रीरामकृष्णदेव के जन्मोत्सव में दरिद्रनारायण को भोजन कराने के लिये मठ में कुछ भी साधन नहीं था। एक भक्त के कथनानुसार, स्वामीजी रात भर बड़ी बेचैनी से टहलते रहे और अस्फुट स्वरों में बुदबुदाते रहे। पहले तो भक्त उन्हें इस दशा में देखकर भयभीत हो गया पर बाद में उसे ज्ञात हुआ कि वे दरिद्रनारायण के भोजन के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। दूसरे ही दिन मैसूर के युवराज की ओर से सहायता आ पहुँची और इसप्रकार दरिद्रनारायण की पूजा सम्पन्न हो सकी।

स्वामी रामकृष्णानन्द अपने शरीर की सुधि छोड़कर वेदान्त और श्रीरामकृष्णदेव के संदेश का प्रचार करने के लिये कठोर परिश्रम किया करते थे। उन्हें कभी-कभी एक ही दिन में शहर के भिन्न-भिन्न स्थानों में धार्मिक व्याख्यान देने के लिये जाना पड़ता था। वे पैदल ही शहर के एक कोने से दूसरे कोने तक जाया करते और जब वे वापस लौटते तब

थकान से चूर-चूर हो जाते थे। लौटकर कभी तो वे भोजन बनाते और कभी डबल रोटी के टुकड़े खाकर ही रह जाते थे। जब लोग उनके कठिन परिश्रम पर आश्चर्य करते तब स्वामीजी उन्हें बताते थे, "यदि कलम में चेतना होती तो वह कहती कि मैंने हजारों पत्र लिखे हैं। पर असल में उसने कुछ नहीं किया है क्योंकि आदमी ने ही उसे पकड़कर लिखा है। इसी प्रकार हम लोग चेतन होने के कारण ऐसा सोचते हैं कि हम ही सब काम करते हैं। किन्तु वस्तुतः जिसप्रकार कलम हमारा साधन है वैसे ही हम भी एक उच्चतर शक्ति के साधन हैं और वही सब कुछ करती है।"

स्वामीजी अपने प्रवचनों में पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं करते थे। वे स्वयं को ईश्वर का दासानुदास मानते थे और उनसे प्रार्थना करते थे कि प्रवचन के कारण उनके मन में अहंकार का उदय न हो। कभी-कभी तो उनके प्रवचन में एक भी व्यक्ति उपस्थित नहीं होता था। ऐसे अवसरों पर वे खाली कमरे में ही भाषण दे दिया करते अथवा भाषण का सारा समय ध्यान में बिता दिया करते थे। पूछने पर वे कहा करते, "मैं यहाँ दूसरों को सिखाने के लिये नहीं आया हूँ। यह तो मेरा कर्त्तव्य है। मेरी कक्षा में कोई आये या न आये किन्तु मुझे अपने कर्त्तव्य को पूरा करना है।"

यद्यपि स्वामी रामकृष्णानन्द अतिशय विनम्र और सहिष्णु थे किन्तु उनमें अपूर्व निर्भयता और दृढ़ता भी थी। उनके वैराग्य के प्रति आकर्षण और प्रचार को देखकर कुछ लोगों ने जब यह शंका प्रकट की कि यदि लोग यह समझने

लग जायें कि आप युवकों को संन्यासी बनने का पाठ पढ़ाते हैं, तो वे मठ को सहायता देना बन्द कर देंगे, तब स्वामीजी ने बड़ी निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया, "मेरे गुरुदेव ने मुझे जो सिखाया है, मैं वही कहूँगा। यदि आर्थिक कारणों से मठ को नहीं चलाया जा सकेगा तो मैं अपने किसी विद्यार्थी के घर के बरामदे में ही रह लूँगा।"

स्वामी रामकृष्णानन्द संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे तथा दक्षिण के पण्डितों से, वहाँ की मातृ-भाषा न जानने के कारण, संस्कृत में ही वार्तालाप करते थे। मद्रास के अतिरिक्त उन्होंने मैसूर और बंगलोर में भी प्रचार-कार्य किया था और मठ की शाखाओं की स्थापना की थी। उनके कुछ भाषणों को 'दि युनिवर्सल एण्ड दि मैन', 'दि सोल ऑफ मैन' और 'श्रीकृष्ण, दि पेस्टोरल एण्ड किंग मेकर' नामक ग्रन्थों में प्रकाशित किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने रामानुज का एक प्रामाणिक जीवन-चरित्र भी लिखा है।

स्वामीजी जीवन-निर्माण पर अधिक बल देते थे और वे बड़े अनुशासन-प्रिय थे। अपने एक विद्यार्थी को ठुड्डी पर हाथ रखकर बैठे देख उन्होंने उससे वैसा न बैठने के लिये कहा था, क्योंकि वैसा बैठना निराशा का व्यञ्जक है। इसी प्रकार मठ में एक व्यक्ति को अखबार पढ़ते देखकर उसे ऐसा करने से मना किया था और उसे ईश्वर-चितन का उपदेश दिया था।

कठोर परिश्रम के कारण स्वामी रामकृष्णानन्द का स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा था। भक्तों के बहुत

अनुरोध करने पर वे चिकित्सार्थ कलकत्ता लौटे। वहाँ बागबाजार के आश्रम में उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की गयी किन्तु उनकी अवस्था नहीं सुधरी। मूर्छावस्था में भी वे दुर्गा-दुर्गा और शिव-शिव का उच्चारण करते रहते थे। २१ अगस्त सन् १९११ को वे महासमाधि में लीन हो गये।

स्वामी रामकृष्णानन्द अपूर्व प्रेममय स्वभाव के थे। गुरुभाइयों के मद्रास आगमन पर वे अत्यन्त हर्षित होकर उनकी सेवा करते थे। वे अपार करुणा से भी सम्पन्न थे। दरिद्र विद्यार्थियों की स्थिति से द्रवित होकर उन्होंने मद्रास में विद्यार्थी-भवन की स्थापना की थी।

डरते हो ? किससे ?

ईश्वर से ? मूर्ख हो !

मनुष्य से ? कायर हो !

पंचभूतों से ? उनका सामना करो।

अपने से ? जानो अपने आप को।

कहो — अहं ब्रह्मास्मि।

— स्वामी रामतीर्थ

स्वामी विवेकानन्द और खेतड़ी-नरेश

स्वामी शुद्धसत्त्वानन्द जी, रामकृष्ण मिशन

बहुत समय से खेतड़ी जाने की अभिलाषा बनी हुई थी, क्योंकि खेतड़ी और उसके स्वनामधन्य नरेश महाराजा अजितसिंह जी स्वामी विवेकानन्द के जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थे।

नवम्बर १९६१ में योगायोग हो गया। मैं तब दिल्ली में था। उस समय दिल्ली-स्थित रामकृष्ण मिशन के प्रधान स्वामी रंगनाथानन्दजी थे। उन्हें पिलानी के इंजीनियरिंग कालेज तथा अन्य शैक्षणिक संस्थाओं में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया था। बिड़ला शिक्षण ट्रस्ट के कुलपति ने स्वामी रंगनाथानन्दजी को लिवाने के लिए कार भेजी। स्वामीजी ने मुझे भी साथ चलने के लिए कहा और इस प्रकार हम पिलानी के लिए रवाना हुए जो दिल्ली से १२० मील दूर है। स्वामी रंगनाथानन्दजी के साथ जाने का मेरा एक और आकर्षण यह था कि वे पिलानी से खेतड़ी भी जानेवाले थे। खेतड़ी पिलानी से केवल ३० मील दूर है। दिल्ली से पिलानी एवं पिलानी से खेतड़ी के बीच नियमित बसें चलती हैं।

खेतड़ी पहले राजपूताने की एक छोटी सी रियासत थी। जयपुर से वह ९० मील दूर है। जयपुर के महाराजा का खेतड़ी पर बड़ा प्रभाव था। यद्यपि खेतड़ी रियासत छोटी थी तथापि वह अत्यन्त प्रगतिशील थी और उसके

महाराजा उदार दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे। जब से वे स्वामी विवेकानन्द के सम्पर्क में आये और उनके परम अनुगत शिष्य बने, तबसे रियासत और प्रजा की अवस्था में काफी सुधार हुआ। खेतड़ी-नरेश की स्वामी विवेकानन्द से पहली भेंट आबू में हुई। वह अप्रैल १८९१ ई० का महीना था। तब स्वामी विवेकानन्द, जो उस समय स्वामी विविदिषानन्द के नाम से परिचित थे, माउण्ट आबू की एक अपरिचित गुफा में निवास कर रहे थे। किसी रियासत के राजकुमार के एक मुसलमान वकील की भेंट स्वामीजी से उस गुफा पर हो गयी और वह स्वामीजी की प्रकाण्ड विद्वत्ता और उनके सौम्य एवं महिमामय मुखमण्डल से बड़े ही प्रभावित हुए। उनके अनुरोध पर स्वामीजी उनके निवासस्थान पर चले आये। उस समय वकील अकेले ही निवास कर रहे थे।

कुछ ही दिनों में स्वामीजी का नाम माउण्ट आबू के शिक्षित समाज में फैल गया। एक दिन खेतड़ी-नरेश के निजी सचिव मुंशी जगमोहनलाल स्वामीजी से भेंट करने वकील के बँगले पर आये। उन्होंने स्वामीजी से पहला ही प्रश्न यह पूछा, "अच्छा स्वामीजी, आप तो हिन्दू संन्यासी हैं; फिर एक मुसलमान के घर पर कैसे ठहरे हुए हैं? आपका भोजन तो स्पर्श-दोष से दूषित हो जाता होगा!" यह सुनते ही स्वामीजी भड़क उठे और बोले, "महाशय, मैं संन्यासी हूँ। आपकी समस्त सामाजिक परम्पराओं से ऊपर उठा हुआ हूँ। मैं तो एक भंगी के साथ भी भोजन

कर सकता हूँ। मुझे ईश्वर का भय नहीं है क्योंकि वह इसे स्वीकृत करता है। मुझे शास्त्रों का भय नहीं है क्योंकि शास्त्र इसकी अनुमति देते हैं। मुझे तो डर तुम लोगों का और तुम्हारे समाज का है। तुम लोग न तो ईश्वर के बारे में कुछ जानते हो, न शास्त्रों के बारे में ....।"

स्वामीजी का उत्तर सुन जगमोहनलाल बड़े प्रभावित हुए। उन्हें ऐसा लगा मानो कोई दैवी अग्नि स्वामीजी में धधक रही है। उन्होंने स्वामीजी को माउण्ट आबू के खेतड़ी-भवन में खेतड़ी-नरेश से भेंट करने के लिए आमंत्रित किया। स्वामीजी ने दो दिन बाद वहाँ जाने का वचन दिया, किन्तु जब खेतड़ी-नरेश को स्वामीजी के बारे में पता चला, तो वे स्वामीजी से मिलने को व्यग्र हो उठे और बोले, "मैं स्वयं जाकर उनके दर्शन करूँगा।" जब स्वामीजी ने यह सुना तो वे तुरन्त खेतड़ी-भवन चले आये। महाराजा स्वामीजी से बड़े तपाक से मिले। औपचारिकता के पश्चात् महाराजा ने उनसे पूछा, "स्वामीजी, जीवन क्या है?" स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "जीवन एक ऐसे तत्त्व की अभिव्यक्ति और विकास है जिसे परिस्थितियाँ दबाकर रखना चाहती हैं।" महाराजा ने और भी अनेक प्रश्न पूछे जिनका स्वामीजी ने समुचित और तर्कसंगत उत्तर प्रदान किया। कहना न होगा कि महाराजा स्वामीजी के उत्तरों से बड़े ही प्रभावित हुए।

बाद में भी वे दोनों मिलते रहे। एक दिन महाराजा ने स्वामीजी से खेतड़ी पधारने का अनुरोध किया।

स्वामीजी राजी हो गये। वे दोनों जयपुर में मिले और वहाँ से ९० मील दूर खेतड़ी की यात्रा रियासत की सवारी में की। महाराजा के आन्तरिक आग्रह पर स्वामीजी ने उन्हें मन्त्र-दीक्षित किया। महाराजा के शिष्यत्व का क्या कहना! एक सच्चे शिष्य की भाँति वे गुरु को साष्टांग प्रणाम कर उनके सामने विनीत भाव से बैठे रहते और गुरु के हृदय से शिष्य के प्रति स्नेह और असीस की पुनीत निर्झरिणी अपने आप फूटने लगती। जैसे-जैसे दिन बीतते गये, गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध अधिकाधिक घनिष्ठ होता गया।

वार्तालाप के सिलसिले में महाराजा स्वामीजी से विभिन्न विषयों पर अनेकों प्रश्न;पूछते और स्वामीजी भी बिना किसी ऊब के उन प्रश्नों का उत्तर देते और इस प्रकार शिष्य की शंकाओं को दूर कर देते। महाराजा की अपने प्रेमास्पद गुरु के प्रति जो गहरी भक्ति थी, उसे लेखनी व्यक्त नहीं कर सकती। गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा इतनी प्रगाढ़ थी कि जब स्वामोजी सोते होते तो महाराजा उनके चरणों को धीरे-धीरे सहलाते रहते। पर स्वामीजी ने महाराजा को दूसरों के सामने ऐसा कभी नहीं करने दिया जिससे प्रजा की आँखों में महाराजा की प्रतिष्ठा को कोई आँच न आने पाये।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण के 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' इस उपदेश का पालन हम महाराजा के जीवन में पूरी तरह देखते हैं और स्वामीजी भी सच्चे तत्त्वदर्शी के समान उन्हें उच्चतम ज्ञान का उपदेश देते रहते।

शिष्य की मेधा बड़ी तीक्ष्ण थी। स्वामीजी की कृपा से वे उनके द्वारा दिये गये निर्देशों को ग्रहण करने के योग्य बने।

स्वामीजी ने महाराजा को विज्ञान के अध्ययन में भी सक्रिय रुचि लेने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने बतलाया कि देश को आज विज्ञान और तकनीकी विद्या की आवश्यकता। उन्होंने स्वयं महाराजा को विज्ञान की कतिपय शाखाओं का शिक्षण दिया और उनकी ही प्रेरणा से महाराजा ने अपने राजमहल के ऊपर एक वेधशाला स्थापित की। एक छोटी भौतिकी प्रयोगशाला का भी प्रारम्भ किया गया। स्वामीजी ने उन्हें कानून की भी शिक्षा दी। एक दिन महाराजा ने पूछा, "स्वामीजी, कानून क्या है?" स्वामीजी ने तत्क्षण उत्तर दिया, "कानून पूरी तरह भीतर की बात है। उसका अस्तित्व बाहर में नहीं है, वह बुद्धि और अनुभव की एक घटना है...।"

पंडित नारायणदास जी शर्मा महाराजा के दरबारी पंडित थे। वे संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे और कई शास्त्रों पर उनका अधिकार था। स्वामीजी का परिचय पंडितजी से कराया गया। स्वामीजी उनकी विद्वत्ता देख बड़े प्रसन्न हुए और उनके पास पाणिनि के सूत्रों पर पतंजलि के द्वारा लिखा गया अष्टाध्यायी महाभाष्य पढ़ा। कुछ अन्य शास्त्रों का अध्ययन भी स्वामीजी ने पंडितजी के समीप रहकर किया।

पंडितजी भी स्वामीजी के समान विद्याव्यसनी छात्र पाकर बड़े आह्लादित हुए और पहले दिन के अध्यापन के बाद कहा, "स्वामीजी, आपके समान विद्यार्थी भी हरदम

नहीं मिला करता।" पंडितजी स्वामीजी की अद्भुत स्मृति-शक्ति और बुद्धि की अनुपम ग्रहणशक्ति को देखकर अभिभूत हो गये और कुछ दिन बाद उन्होंने कहा, "स्वामीजी, अब आपको सिखाने का और कुछ बाकी न रहा। मैं जो कुछ जानता था, वह समस्त आपको सिखला दिया है और आपने पूरी तरह उसे आत्मसात् कर लिया है।" स्वामीजी अपने शिक्षक के प्रति उचित श्रद्धा प्रकट करते थे। उन्होंने पंडितजी के प्रति सादर कृतज्ञता प्रकट की। यहाँ तक कि जब वे अमेरिका में थे, तब भी पंडितजी के बारे में पूछना वे नहीं भूले। वे पंडितजी के लिए 'मेरे शिक्षकजी' कहा करते थे।

खेतड़ी में स्वामीजी के अवस्थान के समय एक मजेदार घटना घटी। गर्मी के दिन थे। गोधूलि की वेला थी। अन्धकार प्रकृति को शान्त और गम्भीर बनाता हुआ धरती पर उतर रहा था। महाराजा अपने मित्रों के साथ आमोद-भवन में आये। अकस्मात् उन्हें स्वामीजी की याद हो आयी और उन्होंने स्वामीजी को बुलवा भेजा। स्वामीजी के आने पर धार्मिक विषय पर चर्चा छिड़ गयी। इतने में नर्तकियों का एक दल वहाँ आया और उन्होंने महाराजा को सिर नवाया। उनमें से एक नर्तकी अच्छी गायिका भी थी। उसका कण्ठ सुरीला और मधुर था। उसने महाराजा से एक गीत गाने का अनुमति माँगी। वह गीत शुरू करने ही वाली थी कि स्वामीजी अपना आसन छोड़ उठ खड़े हुए और अपने निवास स्थल को जाने को उद्यत हुए। इस पर उस गायिका ने हाथ जोड़कर स्वामीजी से प्राथना की, "महाराज, कृपा

पूर्वक अपना आसन ग्रहण कीजिए। मैं एक भजन गाना चाहती हूँ। यदि आप सुनने की स्वीकृति दें तो मैं अपने को धन्य मानूँगी।" उसने सोचा,मैं नर्तकी हूँ इसीलिए स्वामीजी स्थान छोड़कर जाने को उद्यत हुए हैं। इस विचार से वह अत्यन्त व्यथित हो गयी और उसकी पीड़ा प्रार्थना में ध्वनित होने लगी। महाराजा ने भी स्वामीजी से कहा, "महाराज, सब कोई इसके भजन की प्रशंसा करते हैं। कृपया आप भी सुन लें।" स्वामीजी मान गये और फिर से बैठ गये। पर उनका मन उस ओर नथा। गायिका ने सूरदास का एक प्रसिद्ध भजन गाया। उसने अपने हृदय की सारी भक्ति उस गीत में उड़ेल दी और वह स्वयं उसमें डूब गयी। वह गीत था—

प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै, कंचन करत खरो॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलोहि नीर भरो।
जब दोनों मिलि एक बदन भये, सुरसरि नाम परो॥
इक माया इक ब्रह्म कहावत, सूर-स्याम झगरो।
अबकी बेर मोहिं पार उतारो, नहिं प्रन जात टरो॥

गीत समाप्त हुआ। श्रोताओं के हृदय एक अपूर्व भावोच्छ्वास से उद्वेलित हो उठे। स्वामीजी पूरी तरह तन्मय थे और उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। वे बोल उठे, "अहो! एक सन्त का भजन गाकर इस नर्तकी ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का मर्म मुझे समझा दिया!" स्वामीजी ने

इस घटना का उल्लेख करते हुए बाद में लिखा था, "उसका वह भजन सुनकर एक विचार मुझमें कौंध गया कि अब भी मेरे मन से यह भेद बुद्धि दूर नहीं हुई है कि मैं संन्यासी हूँ और वह एक नर्तकी है। ब्रह्म को सब जीवों में देखना कितना कठिन है।...."

उस नर्तकी को सम्बोधित कर स्वामीजी ने कहा, "माता, मैंने अन्याय किया। मुझे क्षमा करो। मैं तुम्हारी उपेक्षा कर यह स्थान छोड़ जाना चाहता था, पर तुम्हारे भक्तिभरे और अर्थपूर्ण भजन को सुनकर मेरी आँखें खुल गयी हैं।" इसके बाद से स्वामीजी उस गायिका को माता कहकर ही सम्बोधित करते और उनकी कृपा से उसका जीवन बदल गया। उस अवसर पर वहाँ जो लोग उपस्थित थे, उनके लिए वह एक रोमांचक अनुभव था।

बहुत कम लोग जानते हैं कि स्वामीजी का विश्वविख्यात 'विवेकानन्द' नाम खेतड़ी-नरेश द्वारा दिया गया था। जब स्वामीजी खेतड़ी आये तब वे अपना नाम विविदिषानन्द' लिखा करते थे। स्वामीजी तीन बार खेतड़ी पधारे और कुल मिलाकर वहाँ पाँच महीने रहे। जब वे पहली बार वहाँ आये थे, तब एक दिन महाराजा ने मुसकराकर स्वामीजी से पूछा था, "स्वामीजी, आपका नाम उच्चारण करने में कठिन है और बिना भाष्यकार के उसका अर्थ समझना भी कठिन है। फिर आपका विविदिषा-काल भी समाप्त हो चुका है। 'विविदिषा' का अर्थ है 'जानने की इच्छा'। पर आपने तो सब कुछ जान लिया है और अब आपके जानने के लिए

कुछ बाकी नहीं रह गया है।" स्वामीजी महाराजा की युक्ति के कायल हो गये और उनसे पूछा, "आप मुझे कौनसा नाम देना पसन्द करेंगे ?" महाराजा उत्तर में बोले, "मेरी अल्पमति के अनुसार आपके लिए 'विवेकानन्द' नाम सबसे उपयुक्त रहेगा।" स्वामीजी ने अपने अनुगत शिष्य की बात मान ली और तबसे वे अपना नाम 'विवेकानन्द' लिखने लगे। उपर्युक्त घटना से स्पष्ट है कि महाराजा स्वामीजी को कितने आदर की दृष्टि से देखते थे तथा उन्होंने स्वामीजी को कितनी अच्छी तरह समझा था। इससे यह भी पता चलता है कि स्वामीजी भी अपने इस योग्य शिष्य के प्रति कितना स्नेह-भाव रखते थे।

खेतड़ी में कुछ महीने आनन्द में बिताकर स्वामीजी जयपुर होकर गुजरात के लिए रवाना हुए और गुजरात से वे दक्षिण चले गये।

महाराजा अजितसिंह के कोई पुत्र न था। यह बात उनके हृदय में शूल की तरह चुभा करती थी। कभी-कभी वे यह सोचकर आकुल हो उठते कि उनके बाद यह राजपाट कौन सँभालेगा। एक दिन जब वे अपने हृदय की पीड़ा सह न सके तो उन्होंने स्वामीजी से अपनी आन्तरिक कामना निवेदित की और पुत्र का वरदान माँगा। महाराजा का यह दृढ़ विश्वास था कि स्वामीजी के आशीर्वाद से कोई भी कार्य सिद्ध हो सकता है। उनकी आकुलता देखकर स्वामीजी ने महाराजा को मनचाहा वरदान दे दिया। कालान्तर में महाराजा को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उनके आनन्द का क्या

कहना! राजकुमार के जन्म के उपलक्ष में एक बहुत बड़ा जलसा किया गया। महाराजा को अपने प्राणप्रिय गुरु की याद आयी। उनकी उपस्थिति के बिना सारा समारोह फीका पड़ जाता। अतः उन्होंने तुरन्त मुन्शी जगमोहनलाल को, सुदूर मद्रास भेजा जहाँ स्वामीजी उस समय अवस्थान कर रहे थे। बड़ी कठिनाई से मुन्शीजी को स्वामीजी का पता लग सका। उन्होंने स्वामीजी से महाराजा की आन्तरिक कामना और प्रार्थना निवेदित की और उनसे खेतड़ी चलकर उस शुभ अवसर पर नवजात शिशु को आशीर्वाद देने का अनुरोध किया। यद्यपि स्वामीजी उस समय सर्वधर्मपरिषद् में भाग लेने अमेरिका जाने की तैयारी कर रहे थे, पर वे अपने प्रियशिष्य खेतड़ी-नरेश के स्नेह पूर्ण आग्रह को न टाल सके। स्वामीजी खेतड़ी-नरेश को बहुत चाहते थे। एक समय उन्होंने जूनागढ़ के दीवान साहब को लिखा था, "...आपको शायद यह भी स्मरण होगा कि महाराजा खेतड़ी और मेरे बीच स्नेह का घनिष्ठ सम्बन्ध है....।" जब स्वामीजी खेतड़ी आये तो देखा कि नगर को भाँति भाँति से सजाया गया है। जहाँ-तहाँ नृत्य-गीत-संगीत और आमोद-प्रमोद के कार्य-क्रम हो रहे थे। महाराजा रियासत के अमीरों और सावों तथा राजपूताने के प्रधानों से घिरे हुए शाही बजरे पर बैठे हुए थे। स्वामीजी को देखते ही वे उठ खड़े हुए और उन्हें साष्टांग दण्डवत किया। तदनन्तर उन्होंने स्वामीजी को परम सम्मानित आसन पर बिठाकर समागत श्रेष्ठियों से उनका परिचय कराया। उन्हें यह कहते संकोच न हुआ कि स्वामीजी

की कृपा से ही उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है। नवजात शिशुको वहाँ लाया गया और स्वामीजी ने हृदय से उसे आशीर्वाद प्रदान किया।

कुछ दिनों के उपरान्त महाराजा स्वामीजी के साथ-साथ जयपुर तक आये और अपने निजी सचिव को आदेश दिया कि वे स्वामीजी को बम्बई तक छोड़ आयें और स्वामीजी की विदेश-यात्रा के लिए टिकट खरीद दें तथा आवश्यक वस्त्र-भूषा एवं प्रयोजन की सभी चीजों की उचित व्यवस्था कर दें। इस प्रकार यह महाराजा का अनुपम सौभाग्य था कि स्वामीजी की महान् ऐतिहासिक विदेश-यात्रा का सम्पूर्ण व्यय-भार उनके कन्धों पर पड़ा। स्वामीजी बम्बई से ३१ मई, १८९३ को अमेरिका के लिए रवाना हुए।

मद्रास में स्वामीजी की विदेश-यात्रा के लिए उनके भक्तों और प्रशंसकों ने जो थोड़ी-बहुत रकम इकट्ठी की थी, उसे स्वामीजी की इच्छानुसार निर्धनों के बीच बाँट दिया गया। खेतड़ी में ही स्वामीजी ने सर्वप्रथम पगड़ी बाँधना सीखा।

शिकागो में सितम्बर १८९३ में भरी सर्वधर्मपरिषद् के समक्ष स्वामी विवेकानन्द ने छः स्मरणीय व्याख्यान दिये। जब स्वमीजी की अपूर्व सफलता का समाचार महाराजा के कानों तक पहुँचा तो उन्होंने एक विशेष दरबार बैठाया जिसमें उन्होंने स्वामीजी को उनकी अभूतपूर्व सफलता के लिए हार्दिक बधाइयाँ देते हुए प्रस्ताव पारित किया और उस प्रस्ताव को स्वामीजी के पास भेज दिया। उस प्रस्ताव के शब्द-शब्द में स्वामीजी के प्रति महाराजा और उनकी

प्रजा का गहरा प्रेम और कृतज्ञता, स्वामीजी के कार्यों के प्रति प्रशंसा और महान् गौरव का भाव तथा आनन्द का उद्वेलन भरा हुआ था।

कहा जाता है कि स्वामीजी ने महाराजा को अपना सन्देश एक फोनोग्राफ के रिकार्ड में भरकर भिजवाया था। उसमें उन्होंने महाराजा को उपदेश दिया था कि वे अपने राज्य का संचालन तथा प्रजाजनों का पालन किस प्रकार करें। स्वामीजी का वह सन्देश हिन्दी भाषा में रिकार्ड किया गया था। दुर्भाग्य से उस रिकार्ड का कहीं पता नहीं चलता, अन्यथा हमें स्वामीजी की वाणी को आज भी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता।

स्वामीजी ने महाराजा को अमेरिका से कई पत्र लिखे। उन सभी पत्रों में स्वामीजी के प्रेरणादायी सन्देश रहते थे और उनसे पता चलता है कि स्वामीजी महाराजा को कितना चाहते थे।

स्वामीजी के युक्तिसंगत व्याख्यानों और सफल प्रचार के फलस्वरूप अमेरिका में वेदान्त-वैजयन्ती सबसे ऊँचे फहराने लगी। स्वामीजी १८९७ ई० में जब भारत लौटे तो सर्वत्र उनका हार्दिक और अभूतपूर्व स्वागत किया गया। खेतड़ी-नरेश ने भी अपने व्यक्तिगत सचिव को स्वामीजी की अभ्यर्थना और स्वागत हेतु मद्रास भेजा और स्वामीजी को खेतड़ी पधारने का हार्दिक आमंत्रण प्रेषित किया। जब स्वामीजी खेतड़ी पधारे, तो महाराजा उनकी अगवानी करने के लिए अठारह मील आगे चले आये और शाही रथ में,

जिसमें छः घोड़े जुते हुए थे, स्वामीजी को राज भवन ले आये। सारा नगर आनन्द से उद्वेलित हो रहा था और स्वामीजी का शाही स्वागत करने को उत्सुक था। स्थानीय हाई स्कूल में स्वामीजी और महाराजा का स्वागत करने के लिए एक महती जनसभा भरी। महाराजा भी कुछ ही दिन पहले अपने यूरोप-प्रवास से लौटे थे।

सर्वप्रथम रामकृष्ण संघ की ओर से स्वामीजी ने महाराजा का स्वागत करते हुए भाषण दिया, जिसका समुचित उत्तर देते हुए महाराजा ने यह वचन दिया कि वे दवाखाने और अस्पताल खोलकर तथा प्रजा के लिए शैक्षणिक संस्थाओं का संचालन कर जनता-जनार्दन की भरसक सेवा करेंगे। उनके भाषण के बाद विभिन्न संस्थाओं और मित्रों की ओर से स्वामीजी का अभिनन्दन किया गया। स्वामीजी ने इन अभिनन्दनों का उत्तर देते हुए, प्रचण्ड करतल-रव के बीच कहा, "... मैंने भारत के उत्थान के लिए जो कुछ थोड़ा-बहुत किया है, वह नहीं हो पाता यदि महाराजा से मेरी भेंट न हुई होती।" केवल यही एक वचन यह सिद्ध करने में समर्थ है कि स्वामीजी को महाराजा कितने प्रिय थे और उन्होंने किस प्रकार स्वामीजी को उनके मिशन की पूर्ति में सहायता दी थी।

वास्तव में, रामकृष्ण मिशन का पहला सेवाकार्य खेतड़ी में ही स्वामीजी की प्रेरणा से उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी के द्वारा प्रारम्भ किया गया था। स्वामी अखण्डानन्दजी १८९५ ई० में खेतड़ी में अवस्थान कर रहे

थे। स्वामीजी ने उस समय उन्हें पत्र लिखा था, "खेतड़ी के निर्धनों और निम्नवर्ग के लोगों के दरवाजे-दरवाजे जाकर उन्हें धर्म की शिक्षा दो ···। तुम्हें तन-मन-वचन से जगत् का कल्याण करना चाहिए। तुमने पढ़ा है — मातृदेवो भव, पितृदेवो भव; पर मैं कहता हूँ-दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव। यह जानलो कि इन्हीं की सेवा में परम धर्म निहित है।"

महाराजा की उदार सहायता और पूर्ण सहयोग से स्वामी अखंडानन्दजी ने खेतड़ी में एक हाई स्कूल और कुछ अन्य पारोपकारिक संस्थाएँ शुरू कीं। महाराजा ने स्वामी विवेकानन्दजी की सलाह को गुरु का पावन आदेश मानकर भरसक उसकी पूर्ति का प्रयास किया। जब महाराजा को मालूम पड़ा कि स्वामीजी की पूजनीय माता आर्थिक कठिनाई में हैं तो उन्होंने उन्हें सौ रुपये प्रति महीने भेजने की व्यवस्था कर दी और इस प्रकार स्वामीजी के प्रति अपनी गहरी श्रद्धा का परिचय दिया। महाराजा और स्वामीजी के देह-त्याग के बाद भी खेतड़ी-खजाने से स्वामीजी की माता को, जब तक वे जीवित रहीं, यह राशि प्रत्येक महीने प्राप्त होती रही।

वास्तव में महाराजा अजितसिंह और स्वामी विवेकानन्द की भेंट एक ऐतिहासिक घटना थी। पाठक यह सहज अनुभव करेंगे कि राजपूताने की एक छोटी सी रियासत के नरेश ने किस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का स्वागत किया और उनके राष्ट्रीय एवं विश्वजनीन आदर्शों को अपनाकर उन्हें व्यवहार में उतारने का प्रयास किया

तथा उनकी सम्पूर्ति के लिए पूरा सहयोग प्रदान किया। स्वामीजी ने भी राजपूताने के इस गौरवशाली पुत्र की महानता को समझा। खेतड़ी-नरेश के प्रति स्वामीजी ने अपनी भावनाओं को निम्नोक्त स्वरचित कविता में व्यक्त किया और महाराजा के पास भेज दिया।

धीरज रखो तनिक और हे वीर हृदय ?

भले ही तुम्हारा सूर्य बादलों से ढक जाय,
आकाश उदास दिखायी दे,
फिर भी धैर्य धरो कुछ हे वीर हृदय,
तुम्हारी विजय अवश्यम्भावी है।

शीत के पहले ही ग्रीष्म आ गया,
लहर का दबाव ही उसे उभारता है
धूप-छाँह का खेल चलने दो
और अटल रहो, वीर बनो !

जीवन में कर्तव्य कठोर हैं,
सुखों के पंख लग गये हैं,
मंजिल दूर, धुँधलीसी झिलमिलाती है,
फिर भी अन्धकार को चीरते हुए बढ़ जाओ,
अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के साथ !

कोई कृति खो नहीं सकती और
न कोई संघर्ष व्यर्थ जायेगा,
भले ही आशाएँ क्षीण हो जायँ
और शक्तियाँ जवाब दे दें।

हे वीरात्मन्, तुम्हारे उत्तराधिकारी
अवश्य जनमेंगे
और कोई सत्कर्म निष्फल न होगा ?

यद्यपि भले और ज्ञानवान कम ही मिलेंगे,
किन्तु, जीवन की बागडोर उन्हीं के हाथों में होगी,
यह भीड़ सही बातें देर से समझती है,
तो भी चिन्ता न करो, मार्ग-प्रदर्शन करते जाओ।
तुम्हारा साथ वे देंगे जो दूरदर्शी हैं,
तुम्हारे साथ शक्तियों का स्वामी है,
आशीषों की वर्षा होगी तुम पर,
ओ महात्मन्
तुम्हारा सर्वमंगल हो।

(यह अनुवाद 'विवेकानन्द साहित्य' से साभार)

कुछ समय पूर्व खेतड़ी के वर्तमान नरेश ने उस राजमहल का, जहाँ स्वामी विवेकानन्द ठहरे थे, एक हिस्सा रामकृष्ण मिशन को दान स्वरूप दे दिया है और वहाँ मिशन की एक शाखा प्रारम्भ कर दी गयी है। जिस कमरे में स्वामी विवेकानन्द ठहरे थे, उसे पूजा-गृह में परिणत कर दिया गया है।

उस पवित्र स्थल पर कुछ देर श्रद्धा और भक्ति भरे हृदय से मौन बैठ, हम लोग स्वामी विवेकानन्द की ही बातें सोचते हुए वापस लौट आये।

—'वेदान्त केसरी' (जनवरी १९६२) से साभार।

भगवद्गीता : एक अभिभाषण

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

(मूल भाषण सर एस० राधाकृष्णन् द्वारा रामकृष्ण मिशन आश्रम, कराची में दिया गया था। यह 'प्रबुद्ध भारत' के मई १९४६ अंक में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत लेख उस मूल अंग्रेजी भाषण का अनुवाद है।)

मैं कराची में पहली बार आया हूँ और मैं यहाँ रामकृष्ण मिशन का अतिथि हूँ। संसार के विभिन्न भागों में मैं इनका अतिथि रह चुका हूँ और इसलिये इस नगर में रामकृष्ण मिशन का अतिथि होना मेरे लिये कोई अनहोनी बात नहीं है।

मेरे लिये जो विषय रखा गया है उसपर स्वयं स्वामीजी (रंगनाथानन्दजी) पिछले कुछ वर्षों से चर्चा कर रहे हैं और उन्होंने इस नगर के हजारों लोगों को इसकी ओर आकृष्ट किया है। इसलिये मैं यह नहीं सोचता कि इस विषय पर मैं कोई नयी बात कह सकूँगा। पर यह एक ऐसा विषय है जो आपको चिरन्तन प्रेरणा प्रदान करता है।

भगवद्गीता एक ऐसा ग्रंथ है जिसने युगों से हमारे लक्ष-लक्ष देशवासियों की अशांति का नाश किया है। इसने केवल हमारे देशवासियों को ही नहीं प्रत्युत विदेशियों को भी शान्ति प्रदान की है। यह एक ऐसी पुस्तक है जिसने अनेकों पीड़ित व्यक्तियों के घावों पर मरहम लगाया है,

जिसने हताश आत्माओं को सान्त्वना दी है और जिसकी स्वदेश और विदेश के व्यक्तियों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। महान् आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में हमें बताया है कि यह समस्त शास्त्रों का सार है– 'समस्तवेदार्थसारसंग्रह-भूतम्' – यह समस्त वेदों का सार है। यह आपको जीवन के विभिन्न लक्ष्यों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–की प्राप्ति में सहायता पहुँचाती है। केवल हमारे आचार्यों ने ही इसकी स्तुति नहीं की है। जब वारेन हैस्टिंग्स भगवद्गीता के प्रथम अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका लिख रहे थे तब उन्होंने कहा था, "इसप्रकार के ग्रन्थ तब भी बचे रहेंगे जब भारत पर से अंग्रेजों का आधिपत्य जाता रहेगा। जब उनके धन और सम्पदा के स्रोत विस्मृति के अंधकार में विलीन हो जायेंगे तब भी यह और इसके समान पुस्तकें बची रहेंगी।"

उनका आशय यह था कि यह एक ऐसी पुस्तक है जो न तो प्राचीन है और न आधुनिक, जो न तो पूर्वी है और न पश्चिमी। प्रत्युत यह एक ऐसा मानवीय संदेश है जिसमें मानवता के आधार भूत मौलिक सत्य मुखरित हो उठे हैं।

मानवात्मा के जीवन-स्रोत से सम्बन्धित है। यह किसी साम्प्रदायिक संदेश का प्रचार नहीं करती। यह आपको कोई रूढ़ि प्रदान नहीं करती। यह किसी विशिष्ट प्रणाली के आचार-विचार या क्रिया-काण्ड पर जोर नहीं देती। प्रत्युत यह आपको कुछ ऐसी मूलभूत धारणाएँ, कुछ ऐसे आधारभूत विचार प्रदान करती है जो तबतक सत्य बने रहेंगे जबतक मानवीय स्वभाव बना रहेगा। कुछ दिनों

पहले रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित एक ग्रन्थ की भूमिका लिखते हुए आल्डस हक्सले ने यह विचार प्रकट किया था कि "यह शाश्वत दर्शन की सर्वाधिक व्यापक विवेचना है। यदि आप एक ऐसे ग्रन्थ की खोज में हैं जो शाश्वत की खोज में लगी हुई मानवता की सहायता करे तो वह ग्रन्थ यही है। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक विकास का अत्यन्त व्यवस्थित विवरण है। यह मानवता के लिये अशेष मूल्य की वस्तु है।" इसप्रकार आप देखेंगे कि इस ग्रंथ की शंसा भारतीय और अभारतीय सभी व्यक्तियों ने की है।

मेरे लिये एक ही व्याख्यान में इस महान् ग्रन्थ के विविध पक्षों पर विस्तार से चर्चा करना सम्भव नहीं है। मैं इसके आधारभूत तत्त्वों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। आप देखेंगे कि इसके अध्यायों की समाप्ति पर कहा गया है—इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे इत्यादि। आप 'ब्रह्मविद्या', 'योगशास्त्र' और 'कृष्ण-अर्जुन-संवाद' इन तीन शब्दों को लीजिये। (१) ब्रह्मविद्या सत्य की तात्त्विक मीमांसा है। यह आपको सत्य के स्वरूप की तार्किक जानकारी देती है। (२) योगशास्त्र आपको सत्य तक पहुँचने का पथ प्रदर्शित करता है। (३) कृष्ण-अर्जुन-संवाद—यह वह पराकाष्ठा है जब मानवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करती है, जब विशुद्ध आत्मा उस एक के सम्मुख अकेले प्रस्तुत होती है। परमात्मा कृष्ण और जीवात्मा अर्जुन एक दूसरे का साक्षात्कार करते हैं—परस्पर संलाप करते हैं। ये तीनों

शब्द तत्त्वमीमांसा, आचारशास्त्र और धर्म के सोपानों के प्रतीक है। ब्रह्मविद्या सत्य का तात्त्विक सिद्धान्त है। योग-शास्त्र इस सत्य तक पहुँचने का नैतिक पथ है। कृष्ण-अर्जुन-संवाद उस ईश्वरीय सत्ता की प्राप्ति का आध्यात्मिक बोध है।

मैं इनमें से कुछ पक्षों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। मैंने कहा है कि ब्रह्मविद्या तात्त्विक विवेचन है। भारत में हम कभी भी बुद्धि को कुण्ठित करने का प्रयास नहीं करते। हम कभी भी यह नहीं कहते कि "आज्ञा का पालन करो और प्रश्न मत करो।" 'ब्रह्मसूत्र' ब्रह्मविद्या का महान् ग्रन्थ है। इसका सबसे पहला सूत्र है 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। 'जिज्ञासा' का अर्थ है खोज, बौद्धिक अन्वेषण। यह एक तार्किक विधि है। दूसरा सूत्र आपको बताता है-'जन्माद्यस्य यतः'। क्या कोई ऐसा तत्त्व है जिससे ये सभी वस्तुएँ निकली हैं ? इस दूसरे सूत्र का सम्बन्ध तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगु-वल्ली से है। वहाँ शिष्य गुरु के पास जाता है और उनसे पूछता है, 'अधीहि भगवो ब्रह्मेति ?' अर्थात् "हे गुरु, आप मुझे कृपा करके बताइये कि ब्रह्म क्या है ?" और इसका उत्तर यह है, "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व"। अर्थात् तुम स्वतंत्र चिन्तन-मनन के द्वारा, मन का निग्रह करके मूलतत्त्व या ब्रह्म के स्वरूप को जानने का यत्न करो। ब्रह्म वह सत्ता है जिससे सभी तत्त्व निकलते हैं, जिसके द्वारा वे पोषित होते हैं और जिसमें वे लीन हो जाते हैं। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयंत्याभि संविशंति तद् ब्रह्म।" उस चरम सिद्धान्त को जानने

की चेष्टा करो जो इस समूचे ब्रह्माण्ड के विकास का रहस्य है। शिष्य सीढ़ी-दर-सीढ़ी आगे चढ़ता है। वह कहता है कि यह जड़ ही ब्रह्म हो—अन्नं ब्रह्म। दूसरी सीढ़ी पर वह सोचता है कि यह जीवन ही ब्रह्म हो—प्राणं ब्रह्म। तीसरे स्थान पर वह कहता है कि पशु-मन ही ब्रह्म हो—मनो ब्रह्म। चौथी सीढ़ी पर उसे प्रतीत होता है कि मानव-मेधा ही ब्रह्म हो—विज्ञानं ब्रह्म। वह संसार का अवलोकन करता है। वह इसमें एक व्यवस्था पाता है। यहाँ एक विलक्षण क्रमागत प्रगति दृष्टिगोचर होती है। वस्तुएँ अचेतन जड़ या अन्न से वनस्पति जगत् में जीवन के रूप में विकसित होती हैं। वनस्पति जगत् से उनका विकास पशु-जगत् के मन के रूप में होता है। फिर पशु-जगत् से उनका विकास मानव मन या बोधात्मक जगत् के रूप में होता है। विकास की गति ऊर्ध्वमुखी रही है। उसका हेतु अपवित्र शून्य नहीं है। वस्तुओं के मूल में अव्यवस्था नहीं हो सकती। वहाँ एक व्यवस्था है, क्रमागत उन्नति है और हम एक सीढ़ी के बाद दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते हैं ब्रह्माण्ड के इस व्यवस्थिति और क्रमागत विकास का प्रारम्भ करने के लिये और उसे एक सोपान से दूसरे सोपान की ओर बढ़ाने के लिये एक मौलिक तत्त्व आवश्यक है। इसीलिये यह उत्तर दिया गया है—'आनन्दं ब्रह्म।' इस आधारभूत तत्त्व को ही परमानन्द कहते हैं। यही तत्त्व इन समस्त सोपानों में स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है और वही भौतिक संसार की बहुविध लीलाओं का मूल कारण है। यह एक ऐसा परम सत्य है जिसके अभाव में

आप जड़ से जीवन, जीवन से मानसिक चेतना, मानसिक चेतना से मानवीय मेधा और मानवीय मेधा से परमानन्द तक निरन्तर आगे उन्मुख होनेवाले विकास-क्रम को नहीं समझ सकते। यह उत्थान विश्व की व्यवस्था का सूचक है। जहाँ कहीं भी आप प्रगति और व्यवस्था पाते हैं वहाँ एक नियमन और निर्देशन करने वाली सत्ता को निरन्तर कार्य-शील रहना चाहिये। मानव-मन यह कार्य नहीं कर सकता। वह स्वयं केवल एक उत्पत्ति या परिणाम है। अतः यहाँ कोई आध्यात्मिक तत्त्व होना चाहिये।

हम इस आध्यात्मिक तत्त्व को कैसे समझ सकेंगे? हम इसे किस नाम से पुकारें? क्या इसकी कोई मीमांसा कर सकना हमारे लिये सम्भव है? यहाँ हमारी स्थिति प्रतीयमान जगत् के परमाणुओं के समान हो जाती है। हम काल और देश के बंधनों से बँधे हुए संसार में रहकर उस अनन्त सिद्धान्त की परख करना चाहते हैं जो देश और काल से परे है। क्या अपनी सीमित बुद्धि के द्वारा सत्य की अथाह सम्पदा की थाह पाना सम्भव है? 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' – अर्थात् जहाँ से हमारी वाणी, मन के साथ, उसे बिना पाये लौट आती है, उसकी मीमासां हम नहीं कर सकते। हम केवल एक ही विधि से इस तत्त्व को अभिव्यक्त कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि यदि यह प्रतीयमान जगत् देश, काल और कारण से बँधा है तो वह तत्त्व ऐसा है जो देश से परे है, जो काल से परे है और जो कारण से परे है। 'यत् तत् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अचक्षुश्रोत्रम्

तदपानिपादम् ।' हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह एक ऐसा तत्त्व है जो अदृश्य है, जो अस्पर्श्य है, जो शब्दातीत और तर्कातीत है और इन सबसे परे है। जब वाणी और युक्ति इस चरमतत्त्व को समझने का प्रयास करती है तो पूरी तरह असफल और शक्तिहीन हो जाती है। हमारे अनेक महान् आचार्यों ने मौन के द्वारा इसको अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। मौन की कठोरता सीमित मन के द्वारा उस असीम परमतत्त्व के अनन्त गुणों के प्रति श्रद्धाञ्जलि है। बुद्ध ने मौन धारण किया था। शंकर ने कहा था-'शांतोऽयम् आत्मा'। उसका कोई वर्णन नहीं किया जा सकता। वे सभी महापुरुष इस चरम तत्त्व की अनिर्वचनीयता को ही प्रकट करते रहे हैं। वह ऐसी अवस्था है जहाँ सारे प्रपंचों का उपशम हो जाता है, जो शान्ति की अवस्था है। उसी की विद्यमानता से यह सारा विकास-क्रम चैतन्यवान् हो रहा है। हम केवल निषेधात्मक विवरण से संतुष्ट नहीं हो सकते। भले ही एक ओर इसका वर्णन करना सम्भव नहीं है किन्तु दूसरी ओर, इसके साथ ही, हम यह भी जानते हैं कि यह ब्रह्माण्ड का नियमन करने वाली मौलिक सत्ता है। यह वह जीवन्त तत्त्व है जो केवल परब्रह्म ही नहीं है अपितु परमेश्वर भी है, जो संसार का ईश्वर अर्थात् स्वामी है। हमें उसे केवल विश्व का चरमशासक मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि आप अपने जैविक-स्वभाव का संयमन कर सकते हैं, यदि आप स्वयं को निरावरित कर सकते हैं, यदि आप अपना

'वस्त्रापहरण' कर सकते हैं, यदि आप अपनी देह, मन और बुद्धि को त्याग सकते हैं तो आप उस विश्व-चेतना की धारणा कर सकते हैं जिसके बिना देह, मन और बुद्धि का अस्तित्व नहीं होता। ये उपकरण उस परमचेतना के प्रवाह के मार्ग हैं जो मानवात्मा के बाह्य प्रकाशनों के अन्तराल में प्रवाहित हो रही है। अन्य शब्दों में, जब आप इसे विश्व के परे देखते हैं तब यह तत्त्व परब्रह्म प्रतीत होता है और जब आप इसे संसार का सम्राट् समझते हैं तब यही परमेश्वर हो जाता है। जब आप इसे अपने जीवन के मूल स्रोत के रूप में देखते हैं तब यह परमात्मा बन जाता है। ये इस सत्ता के अलौकिक, जागतिक और वैयक्तिक पक्ष हैं, जैसा कि भागवत हमें बताता है :

"वदन्ति तत तत्त्वविदः तत्वं यद् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते ॥"

चाहे आप इसे ब्रह्म कहें, या परमात्मा कहें, अथवा भगवान् कहें, इससे कोई अन्तर नहीं आता। यह तो आपका विशेष दृष्टिकोण है। यदि परमात्मा को संसार का शासक माना जाय, यदि उन्हें 'शाश्वतधर्मगोप्ता' के आसन पर प्रतिष्ठित किया जाय, तो इससे यह निष्पन्न होता है कि जब कभी संसार में अराजकता फैलती है, जब कभी आप संसार के नैतिक मानदण्डों में असंतुलन पाते हैं, तब वह परम-तत्त्व जो आपके और इस सीमित संसार के अन्तराल में स्वयं को प्रकाशित कर रहा है, अपनी अनन्त करुणा और दया के गुणों को ऐतिहासिक अवतारों के माध्यम से

अभिव्यक्त करता है । जब दुष्टता और अनाचार बढ़ जाते हैं, जब बलवान कमजोरों को कुचलने लगते हैं, तो ऐसी परिस्थितियों में कवि के शब्दों में, 'वे आते हैं, आते हैं, सदैव आते हैं ।' शंकराचार्य अपने गीता भाष्य की भूमिका में कहते हैं, "स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानाम् ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावः अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते ।" ऐसी परिस्थितियों में वे मानवता के उद्धार के लिये मनुष्य के रूप में अवतार लेते हैं।

इससे आपको यह नहीं मान लेना चाहिये कि ईश्वर का अवतार कहीं विशिष्ट जगह या किसी विशेष व्यक्ति में ही होता है । यह तो ईश्वर का सार्वभौमिक अवतार है । प्रत्येक व्यक्ति इस अवतार की योजना कर सकता है । कृष्ण के जन्म की परिस्थितियों का वर्णन इसप्रकार किया गया है : जब तमोगुण बढ़ जाता है, जब घोर रात छा जाती है, जब आपको प्रकाश की एक किरण भी दिखाई नहीं देती तब प्रत्येक व्यक्ति में छिपा हुआ आलोक चमक पड़ता है । वे वहीं होते हैं । परमात्मा प्रत्येक मनुष्य के जीवन की गहराई में विद्यमान हैं । किन्तु वे हमारे कोषों और ग्रंथियों से आच्छन्न हैं । जब तक व्यक्ति इन बाह्य प्रकाशनों की ओर अभिमुख होता है और अपना ध्यान इन्हींपर केन्द्रित रखता है तब तक वह विशुद्ध तत्त्व पकड़ में नहीं आता । जब हम इन बाह्य विषयों से ऊपर उठने में समर्थ हो जाते हैं तभी

हम विशुद्ध आत्मतत्त्व तक पहुँच सकते हैं। ईसा को गहरी निराशा में डूबकर क्रन्दन करते हुए कहना पड़ा था, "हे प्रभु, तुमने मुझे क्यों त्याग दिया।" यह एक ऐसा क्षण होता है जब पैरों के नीचे की सारी धरती फटती सी जान पड़ती है। जब व्यक्ति को आशा की कोई किरण नहीं दिखती, जब वह समस्त आशाओं का त्याग कर देता है, तभी उसे प्रकाश की रेखा दिखायी देती है और वह कह उठता है, "आपकी इच्छा पूरी हो।" इसीप्रकार निराशा के क्षणों में द्रौपदी ने बिलख-बिलख कर कहा था, "मेरा कोई पति नहीं है, मेरा कोई भाई नहीं है, इस संसार में मेरा कोई नहीं है। हे भगवान, तुम भी, हाँ तुम भी मेरे लिये मर गये हो!" जिस समय वह आर्तनाद कर रही थी उससमय उसे सभी वस्तुएँ निस्सार लग रही थीं। ऐसे क्षणों में, जब आवरण दूर हट जाते हैं, जब हमारी आँखों का परदा दूर हो जाता है, तभी हम ईश्वरीय शक्ति का, ईश्वरीय आलोक का दर्शन करते हैं।

इसी प्रकार जब अर्जुन को युद्ध करने के लिये कहा गया था और जब वह युद्ध से पीछे हट रहा था, तब उसने कहा था, "मैं वह क्यों करूँ जिसकी समाज मुझसे अपेक्षा रखता है? ये सामाजिक कर्त्तव्य, ये वैयक्तिक कर्त्तव्य, मेरे लिये कोई महत्त्व नहीं रखते। मैं दुर्बल हूँ, मैं अशक्त हूँ, मैं मोह से ग्रस्त हो गया हूँ, क्या आप मेरी सहायता नहीं करेंगे?" ऐसे ही क्षणों में भगवान् अर्जुन का उद्धार करने के लिये आते हैं। चाहे द्रौपदी हो, या अर्जुन हो या ईसा

मसीह हो—इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। जब तक मनुष्य संसार के विषयों में डूबा रहता है, जब तक वह इन्हें अपनी आशा का केन्द्र बनाये रखता है और जब तक वह इन बाह्य विषयों से अपनी आसक्ति को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता तब तक उसमें भगवान् का अवतरण नहीं हो पाता।

आधी रात में कृष्ण के जन्म का अर्थ यह है कि जब अशेष संसार हमारे लिये रात के समान हो जाता है, तब प्रत्येक मानवात्मा में कृष्ण या भगवान् का जन्म होता है। जब इन सांसारिक वस्तुओं से हमारा मोहपाश टूट जाता है, जब बाहरी चकाचौंध हमें गहरे अंधकार के समान प्रतीत होती है तब वह आंतरिक प्रकाश स्वयं को उद्भासित करता है। इसप्रकार के अवतार को संसार के व्यापार में किसी प्रकार बाधक नहीं मानना चाहिये। इसे मनुष्य का सार्वभौमिक उद्देश्य समझना चाहिये। हम यहाँ अपनी आत्मा के प्रच्छन्न देवत्व का साक्षात्कार करने के लिये आये हैं। तात्विक मीमांसा आपको परम्परासम्मत किसी भी वस्तु को स्वीकार करने के लिये नहीं कहती। वह आपको केवल विकास की प्रकृति की जानकारी देती है और उस चरम बौद्धिक तत्त्व की आवश्यकता का निरूपण करती है जो संसार का नियमन करता है। यदि वह संसार का नियामक है, तो उसे संसार के व्यापारों में रुचि रखनी चाहिए और हममें से प्रत्येक व्यक्ति अनुकूल पथ का अनुसरण कर उस अन्तःस्थ ईश्वर की अनुभूति कर सकता है।

अब हम योगशास्त्र पर आते हैं। वह नैतिक पथ है।

यह वह अनुशासन है जिसका पालन हमें करना होगा। हममें से बहुत से लोगों के लिये यह कहना सरल है कि "मैं ईश्वर पर विश्वास करता हूँ।" पर हम प्रत्येकक्षण अपने विश्वास के विपरीत कार्यों का सम्पादन करते रहते हैं। हमारी बुद्धि के निर्णय और जीवन की सक्रिय शक्ति के बीच एक दरार होती है। हमारे लिये 'अस्ति ब्रह्म, और 'अहंब्रह्म' के भेद को जानना आवश्यक है। हमारे लिये यह कहना सरल है कि ईश्वर है। किन्तु हमारे लिये यह कहना कठिन है कि मैंने उस ईश्वरीय सत्ता का अनुभव अपने जीवन में किया है, उसे मैंने अपने हृदय की गहराई में महसूस किया है, मैं ईश्वर को उसी प्रकार सत्य मानता हूँ जिस प्रकार मैं इस संसार को सत्य मानता हूँ। जब तक हम यह कहने की स्थिति में नहीं है कि हमने सत्यस्वरूप ईश्वर का साक्षात्कार किया है तबतक हम सच्चे आध्यात्मिक प्राणी नहीं होंगे। तत्त्व-मीमांसा और तार्किक विधान प्रत्यक्ष साक्षात्कार से बिलकुल भिन्न हैं। हमें ईश्वर की अनुभूति अपनी चेतना के अतल तल में करनी होगी। हम ऐसा कैसे कर सकते हैं? हमारे सामने गीता ज्ञान, कर्म और भक्ति की तीन विधियाँ रखती है। कुछ व्यक्ति विचार-शील होते हैं। उनके लिये ध्यान की और बाह्य जगत् से अपने को अलग करने की विधि निर्धारित की गयी है।

जब पाइथागोरस से प्रश्न किया गया कि दार्शनिक का क्या कार्य होना है तब उसने कहा था, "हम सभी जीवन के भोज में भाग लेने के लिये आते हैं। हममें से कुछ लोग धन

कमाने के लिये आते हैं। दूसरे लोग नाम और यश पाने के लिये आते हैं। कुछ ऐसे लोग भी आते हैं जो केवल यह सब देखते रहते हैं। ये देखने वाले लोग ही दार्शनिक हैं।"

प्लेटो ने कहा था, "दार्शनिक सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण देश के दर्शक होते हैं।" काल और देश तो बाहरी आयाम हैं। चेतना का आन्तरिक तत्त्व ही दर्शक है। जबतक आप आत्मा और देशकाल रूपी अनात्मा के भेद को नहीं समझ लेते, जब तक आप आत्मा को अनात्मा से अलग करने में सफल नहीं हो जाते, जबतक आप उर्द्ध्वगतिक विशुद्ध आत्मा को सांसारिक विषयों के प्रति उन्मुख जीवात्मा से अलग करने में समर्थ नहीं हो जाते, तब तक आप उस अभौतिक और विशुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकते। इसलिये हमें ध्यानयोग को विधि प्रदान की गयी है। आपको एकान्त में रहना होगा। किन्तु केवल बाहरी एकान्त ही पर्याप्त नहीं है। हम स्वयं को एक कमरे में बन्द रख सकते हैं पर हमारा मन सभी प्रकार के विचारों से भरा रह सकता है। यदि आप अपनी विशुद्ध आत्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो आपको अपनी उद्दाम इच्छाओं और कामनाओं के आकर्षण का दमन करना होगा। गीता में इसे ही 'यतचित्तात्मा' कहा गया है। आपको अनासक्त होना चाहिये। आपको फल या पुरस्कार की कोई आशा नहीं रखनी चाहिये। अपरिग्रह का अर्थ है स्वामित्व को भावना का अभाव। स्वामित्व की भावना उच्च जीवन की सबसे विघातक वस्तु है। ईसा मसीह के पास एक व्यक्ति आया। उसने कहा, "मैंने सभी

आदेशों का अनुसरण किया है, सभी नियमों का पालन किया है। मुझे स्वर्ग के राज्य की प्राप्ति के लिये और क्या करना चाहिये ?" ईसा ने उत्तर दिया, "जाओ, तुम्हारे पास जो कुछ है उसे बेच डालो और उस धन को गरीबों में बाँट दो।" तब वह व्यक्ति फिर ईसा के पास नहीं लौटा। अपरिग्रह का अर्थ होता है स्वामित्व का अभाव। आपके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं होनी चाहिये जो आपको इस संसार से बाँधे रखती है। इसप्रकार की अनासक्ति अत्यावश्यक है। ध्यानयोग वह प्रणाली है जिसके द्वारा मन सभी प्रकार की सांसारिक आसक्तियों को दूर करते हुए स्वयं को वैचारिक नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक रूप से समस्त लौकिक विषयों से मुक्त करता है—"यतचित्तात्मा, निराशीः, अपरिग्रहः।"

ये बड़े कठिन गुण हैं। हममें से अनेकों इसे पाने में समर्थ नहीं हो पाते। इसलिए हमारे लिये एक दूसरी विधि भी है। वह भक्ति, समर्पण और स्वीकार की विधि है जिसमें कोई अपेक्षा नहीं होती, कोई दावा नहीं होता। हम स्वयं को पूरी तरह से ईश्वर के हाथों में सौंप देते हैं। ये समर्पण के गुण हैं। ये गुण पुरुषोचित की अपेक्षा अधिक स्त्रैण माने जाते है। इसीलिये यह कहा गया है कि संसार में केवल एक ही परमपुरुष हैं। हम सभी स्त्रियाँ हैं— "स्त्रीप्रायं इतरत सर्वम्" अन्य शब्दों में, हमें विनीत होना चाहिये, हमें समर्पणशील और प्रार्थी होना चाहिये। किसी वस्तु का अधिकार मत जताओ। केवल ईश्वर के अनुग्रह की याचना करो। यही भक्ति का मार्ग है। हमारे

लिये इस मार्ग को स्वीकार करना अधिक सरल है। गोपी ईश्वर से यही प्रार्थना करती है, इस कृपाकी याचना करती है कि वे ही उसके पति हों – "कात्यायनि महादेवि सर्वलोक-महेश्वरि, नंदगोपसुतं देवि अस्माकं पति ••• "। अर्थात् हे महादेवी, मैं तुम्हारे चरणों की वंदना करते हुए यह कामना करती हूँ कि गोपियों के प्रभु, नंद के पुत्र मेरे पति हों।

रासलीला का अर्थ यह है कि संसार के सभी व्यक्ति संसार के स्वामी की वंदना करते हैं, उनसे याचना करते हैं और उनके अनुग्रह की भीख माँगते हैं। उस परमात्मा की सार्वभौमिकता में करोड़ों लोगों की प्रार्थना से कोई बाधा नहीं पड़ती। आत्मा की सार्वभौमिकता और प्रार्थियों की अनेकता — यही रासलीला के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। एक ही परमेश्वर प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख आते हैं। और चूँकि वे कुछ के सम्मुख आते हैं इसका यह अर्थ नहीं है कि वे दूसरों के सम्मुख नहीं होते। यही विचार रासलीला की धारणा के द्वारा प्रकट किया गया है। किन्तु विदेशियों ने इसे समझने में भ्रांति की है और उनके पद्-चिन्हों पर चलकर हमारे कुछ देशवासियों ने भी उसकी गलत व्याख्या और भ्रामक धारणा की है।

आप देखेंगे कि यह भक्ति की विधि है। यह आराधना की विधि है। किन्तु जो लोग कर्मठ स्वभाव के होते हैं; जो चिन्तन-मनन या भावुकता को पसंद नहीं करते उनके लिये एक दूसरी विधि भी है। अर्जुन ऐसा ही व्यक्ति है। वह खड़े होकर कहता है, "मैं जानता हूँ कि मैं क्षत्रिय हूँ।

मैं जानता हूँ कि युद्ध करना मेरा कर्त्तव्य है। किन्तु मैं युद्ध नही करूँगा। मैं इस लड़ाई में भाग नही लूँगा जो मुझपर थोपी गयी है।" और फिर उसका क्या होता है ?

हम सब जानते हैं कि जब हमारा कर्त्तव्य क्लेशदायक हो जाता है, जब हमें दुःखी और क्लान्त बना देने वाले कार्य करने पड़ते हैं तब हम अपने उस निर्दिष्ट कर्त्तव्य से छुटकारा पाना चाहते हैं जो हम पर थोपा गया है। हम हम इन कर्त्तव्य-कर्मों से मुक्त होने के लिये सभी तरह के बहाने गढ़ते हैं। अन्त में जब अर्जुन वस्तुओं में निहित सत्य में प्रवेश करने में सक्षम हो जाता है, जब वह संसार को और स्वयं को चलानेवाली शक्ति पर विश्वास कर लेता है तब वह कहता है— "करिष्ये वचनं तव।" अर्थात् "आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा।" इसी प्रकार आपको मालूम होगा कि ईसा मसीह ने भी अपना हाथ उठाकर कहा था, "नहीं,मैं यह दुःख नहीं सह सकता। मेरे सामने से दुःख की यह कटोरी हटा दो। मैं इसे नहीं पीऊँगा।" काफी उधेड़बुन और संघर्ष के बाद वे कहते हैं— "आपकी इच्छा पूरी हो"। ईसा मसीह का उपर्युक्त वचन 'करिष्ये वचनं तव' का अविकल अनुवाद है। "मैं तुम्हारे आदेश का पालन करूँगा।" ईसा और अर्जुन दोनों यह चाहते थे कि उन्हें पीड़ा और दुःख की कटोरी नहीं पीनी पड़े। अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था और ईसा दुःख की कटोरी नहीं पीना चाहते थे। ईसा ने कहा था, "इस कटोरी को हटा दो।" और, अर्जुन ने कहा था, "मुझे क्षमा करो, मैं

नहीं लड़ूँगा।" किन्तु उन दोनों ने अपना इतना आध्यात्मिक विकास कर लिया था कि वे एक ऐसी स्थिति पर पहुँच गये जब उन्होंने खड़े होकर यह कहा था, "मेरी इच्छा न सही पर तुम्हारी इच्छा पूरी हो।" अन्य शब्दों में, किसी भी प्रकार की स्वार्थमयी इच्छा को न रखने पर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को दिव्य शक्ति का माध्यम बना सकता है। वह यह समझने में समर्थ हो सकता है कि वह संसार में वैयक्तिक माँगों को संतुष्ट करने के लिये नहीं आया है अपितु ईश्वरीय प्रयोजन को जानकर उस ईश्वरीय प्रयोजन की सहायता करने आया है। आप केवल स्वयं को इस प्रयोजन में डुबा दीजिये, ईश्वरीय इच्छा को स्वीकार कर लीजिये और आप क्रमिक रूप से परिपूर्णता के सोपान पर पहुँच सकते हैं।

इस प्रकार जब आप ईश्वरीय आदेशों का पालन करेंगे तब आपके लिये अपनी उन महत्तर सम्भावनाओं का अनुभव करना सम्भव हो सकेगा, जो आपमें पहले से हैं।

कभी-कभी जो कार्य हमें घिनौना लगता है, इतना दुःखदायक और अग्राह्य प्रतीत होता है, जिससे हम बचने और दूर भागने का प्रयत्न करते हैं, वही कभी-कभी ईश्वर का लक्ष्य बन जाता है और हमें उसे सम्पन्न करना पड़ता है। इस प्रकार कार्य का त्याग करने की अपेक्षा उस कार्य को करने से हम ईश्वर की इच्छा पूरी करते हैं, हम उनके प्रयोजन को जान लेते हैं और अधिक गहराई से उनकी सत्ता का बोध करते हैं। विष्णुपुराण में कहा गया है,

"जो व्यक्ति ईश्वर की इच्छा का पालन किये बिना उनका नाम चिल्लाकर लेते रहते हैं वे भगवान् के शत्रु हैं।"

स्वधर्मकर्मविमुखाः कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणो मूढ़ाः धर्मार्थं जन्म यदि हरेः॥

अर्थात् 'जो संसार में अपने कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन हैं और कृष्ण-कृष्ण कहते जाते हैं, वे भगवान् के शत्रु हैं, वे अज्ञानी हैं, वे भ्रमग्रस्त मरणधर्मा हैं। स्वयं भगवान् को भी सृष्टि के लिए संसार का उत्कर्ष करने के लिये बहुत कष्ट उठाना पड़ा था।' जब उन्होंने हमारे लिये आदर्श की स्थापना की है तब क्या हमें संसार से भागना चाहिये और संसार के द्वारा अपेक्षित कार्यों को नहीं करना चाहिये? ध्यानयोग, भक्तिमार्ग या कर्मयोग, इनमें से किसी भी विधि को आप क्यों न अपनाएँ, सभी विधियों के द्वारा आप उस चरमसत्ता को प्राप्त कर सकते हैं जो आपको मानवीय पाशों से मुक्त कर देगी। ऐसा व्यक्ति अपनी सीमाओं से मुक्त हो सकता है, वह स्वयं को प्रतीयमान संसार से पूरी तरह से मुक्त कर ले सकता है। जब वह संसार का कार्य करता है तब वह एक तटस्थ दर्शक का दृष्टिकोण अपनाने में सफल हो जाता है। ऐसा व्यक्ति ही ईश्वर-साक्षात्कारी आत्मा है। ऐसा व्यक्ति परमेश्वर को सदैव अपने सम्मुख देखता है। वह अमरता का स्पर्श कर लेता है। उसका मन ईश्वरीय आलोक से परिपूर्ण हो उठता है। उसके हृदय में प्रेम का सागर लहरें मारने लगता है। और, वह पीड़ित मानवता के उत्थान के लिये व्याकुल हो

जाता है। मनुष्य का चरम उद्देश्य केवल जन्म लेना, बड़ा होना, प्रजोत्पत्ति करना, घर बसाना, धन कमाना और फिर मर जाना ही नहीं है। अन्तःस्थ ईश्वरत्व की अनुभूति करने के लिये ही मनुष्य जन्म लेता है।

प्रत्येक मनुष्य के सामने दो वस्तुओं में से एक को चुनने की समस्या आती है। "यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः"। हममें से प्रत्येक में ये दो सम्भावनाएँहैं — या तो हम सब अमृत अर्थात् शाश्वत जीवन के अधिकारी हो सकते हैं अथवा मृत्यु और बिनाश को प्राप्त कर राख बन सकते हैं। यदि आप अपने भीतर अमृत का विकास करना चाहते हैं तो आपको सत्य के पथ पर चलना पड़ेगा। और यदि इसके प्रतिकूल आप मृत्यु से मृत्यु तक पहुँचना चाहते हैं तो इसका मतलब यह है कि आप इस चकाचौंध से भरे संसार में बँध जायेंगे। भगवद्गीता हमारे सामने जो चरम उद्देश्य रखना चाहती है वह है दार्शनिक प्रशांति के साथ व्यावहारिक कुशलता का योग। भगवद्गीता के अन्तिम श्लोक में कहा गया है–"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिः ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥" एक सुनिश्चित प्रयोजन के लिये इन शब्दों का चुनाव किया गया है। योग या कृष्ण का ध्यान स्वयं में निष्फल है। आपमें अर्जुन का शौर्य होना जरूरी है। आपको केवल दार्शनिक योगी ही नहीं अपितु व्यावहारिक मनुष्य, राजा, प्लेटो का दार्शनिक राजा बनना आवश्यक है। गीता हमारे लिये उस उद्देश्य का निर्धारण करती है जहाँ ध्यानी और योगी ध्यान की शक्ति को कर्मठता

में नियोजित करते हैं, जहाँ वे ध्यान और कर्म के इन दोनों तत्त्वों को संयुक्त करके संगुम्फित कर देते हैं। यदि आप भगवद्गीता के संदेश का अध्ययन करेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि यहाँ किसी मिथ्या तथ्य या अवैज्ञानिक रूढ़ि को प्रश्रय नहीं दिया गया है। गीता मानव-स्वभाव को यथावत् स्वीकार करती है। वह इसकी शाश्वत को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति का अध्ययन करती है। वह चिरन्तन की प्राप्ति की इच्छा की पूर्ति के लिये पथ का निर्धारण करती है। वह आपको विचारशीलता, व्यावहारिकता या भावुकता को त्यागने का सुझाव नहीं देती। वह आपको केवल इतना बताती है कि मनुष्य उच्चतर जीवन के मोड़ पर खड़ा हुआ है; उसकी बुद्धि प्रौढ़ तो हो गयी है, किन्तु जीवन की गति यह बताती है कि विकास का लक्ष्य यह नहीं है। मनुष्य को और भी आगे बढ़ना है। उसके आगे बढ़ने का अर्थ शरीर का विकास नहीं है प्रत्युत आत्मा का विकास करना है। यदि यह सत्य है तो मानवीय बुद्धि को ईश्वरीय बोध में परिणत् करना पड़ेगा। उस प्रबुद्ध चेतना की प्राप्ति तब होगी, जीवन का विस्तार तब होगा, उन महान् क्षणों की अवधि तब विस्तृत होगी जब मनुष्य चिरन्तन सत्ता के स्पर्श का निरन्तर अनुभव करेंगे, जब वे इस ठोस धरती से वायवीय ऊँचाइयों में विचरण करेंगे, जब वे उस परम सत्ता के गहन अन्तराल में प्रविष्ट होंगे, जब समय रुक जाएगा, जब वे उस परमतत्त्व की एक झाँकी लेने में समर्थ हो जाएँगे जिसके समक्ष अमरता और मृत्यु छायामात्र हैं। यदि आप इस उद्देश्य की प्राप्ति

में सफल होते हैं तब तो आप परिपूर्णता की उपलब्धि कर लेंगे। पर यदि आप ऐसा नहीं करते तो भले ही आप वस्तुओं के स्वामी बन जायें, भले ही आप अपना भौतिक संसार बनालें, भले ही आप अणु-बम का आविष्कार कर लोगों को मार डालें पर आप एक मनुष्य के रूप में असफल ही रहेंगे। यदि आप इस उद्देश्य की प्राप्ति कर लेते हैं, तो "कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुंधरा पुण्यवती" - आपकी माता धन्य हो जायेगी और आपका जन्मस्थान पवित्र हो जायेगा। यदि आप अभी इस देह से उस विमल जीवन को प्राप्त करने में समर्थ हैं जो प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य है, तो मानवात्मा अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेगी।

— 'प्रबुद्ध भारत' से साभार।

जब ज्ञान इतना घमंडी बन जाय कि वह रो न सके, इतना गंभीर बन जाय कि हँस न सके और इतना आत्मकेन्द्रित बन जाय कि अपने सिवा और किसी की चिन्ता न करे, तो वह ज्ञान अज्ञान से भी ज्यादा खतरनाक होता है।

— खलील जिब्रान

मानव - वाटिका के सुरभित पुष्प

श्री शरद् चन्द्र, पढारकर, रायपुर

चमारों की जमघट

मिथिलानरेश जनक ने अपने दरबार में महामुनियों एवं विद्वानों को उचित स्थान दिया था। एकबार वे दरबार में विद्वानों के साथ चर्चा कर रहे थे कि वहाँ 'अष्टावक्र' नामक एक ब्राह्मण-कुमार आ पहुँचा। उस ब्राह्मण - कुमार का चेहरा था तो कुरूप, साथ ही उसके नाम के अनुरूप उसके शरीर के अवयव टेढ़े थे। वह बेचारा अपने शरीर को किसी प्रकार सँभालते हुए वहाँ आया था। उसकी व्यंग्यात्मक देह को देखकर सभा में उपस्थित जनों को जोरों से हँसी आई। उन्हें हँसते देखकर अष्टावक्रने भी जोरों से हँसना शुरू किया।

महाराजा जनक अपने सिंहासन से उठकर अष्टावक्र के पास आये और उसे प्रणाम कर बोले, "महाराज ! आपके हँसने का कारण विदित न हुआ ? कृपया समाधान करें।"

अष्टावक्र बोला, "राजन् ! क्या आप इन विद्वज्जनों के हँसने का खुलासा करेंगे ?" इतने में एक ब्राह्मण खड़ा हुआ और बोला, "हमें तेरी व्यंग्यात्मक काया देखकर हँसी आ रही है।"

अष्टावक्र बोला, "राजन् ! मैंने सुना था कि आपके दर-बार में विद्वज्जनों का समूह है, जब कि मैंने तो यहाँ आकर यही जाना कि मैं चमारों के जमघट में आ पहुँचा हूँ और यही देखकर मुझे हँसी आ गई।"

"महामुने ! आप यह क्या कह रहे हैं।" जनक राजा बोले, "आपको इस प्रकार विद्वानों का अपमान नहीं करना चाहिए।"

"ठीक ही कह रहा हूँ, महाराज!" अष्टावक्र बोला, "जो लोग हड्डियों एवं चमड़ों की परीक्षा किया करते हैं, भला उन्हें चमार न कहा जाय तो और क्या कहा जाय ?"

यह सुनते ही उन सारे विद्वानों को पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने अष्टावक्र को प्रणाम कर क्षमा माँगी।

भिक्षा का उपयोग

स्वामी रामदासजी का यह नियम था कि वे स्नान एवं पूजा से निवृत्त हो भिक्षा माँगने के लिए केवल पाँच ही घर जाते थे और कुछ न कुछ लेकर ही वहाँ से लौटा करते।

एक बार उन्होंने एक घर के द्वार पर खड़े होकर 'जय-जय रघुवीर समर्थ' का घोष किया ही था, कि गृह-स्वामिनी, जिसकी थोड़ी ही देर पूर्व अपने पति से कुछ कहासुनी हुई थी और जो गुस्से में थी, बाहर आई और चिल्लाकर बोली, "तुम लोगों को भीख माँगने के अलावा कोई दूसरा धंधा ही नहीं। मुफ्त में मिल जाता है अतः

चले आते हो। मेरे घर में तुम्हारी दाल न गलेगी, जाओ कोई दूसरा घर ढूँढ़ो।"

स्वामीजी हँसकर बोले, "माताजी। मैं खाली हाथ किसी द्वार से वापस नहीं जाया करता। कुछ न कुछ तो लूँगा ही।"

वह गृहस्वामिनी भोजनोपरांत चौका लीप रही थी और उसके हाथ में लीपने का कपड़ा था। वह उसे ही उनकी झोली में डालते हुए बोली, "तो ले यह कपड़ा और कर अपना मुँह काला यहाँ से।"

स्वामीजी प्रसन्न हो वहाँ से निकले और नदी पहुँचे। उन्होंने उस कपड़े को साफ किया और उसकी बत्तियाँ बनाईं तथा वे एक देवालय पहुँचे। इधर जब वे वह कपड़ा धो रहे थे, तो उस समय उस स्त्री का हृदय भी पसीजने लगा और उसे पश्चात्ताप होने लगा कि उसने व्यर्थ ही एक सत्पुरुष का निरादर किया। उसे इतना रंज हुआ कि वह विक्षिप्त हो उन्हें खोजने के लिए दौड़ पड़ी। अंत में वह उस देवालय में आ पहुँची। वह स्वामीजी के चरणों पर गिर पड़ी और बोली, "देव! मैंने आप सरीखे धर्मात्मा का निरादर किया। मुझे क्षमा करें।" और उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली।

रामदासजी बोले, "देवी! तुमने उचित ही भिक्षा दी थी। तुम्हारी भिक्षा का ही प्रताप है कि यह देवालय प्रज्वलित हो उठा है। अन्यथा तुम्हारा दिया हुआ भोजन तो जल्द ही खत्म हो गया होता!"

उचित दंड

एक युवक महाराजा रणजीतसिंहजी के चरणों पर गिर पड़ा। वह कभी उनका सहपाठी था—अत्यंत स्नेह भाजन। परंतु उसीने राजकुल के विरुद्ध षड़यंत्र में भाग लिया था और यह बात रणजीतसिंहजी को किंचित् मात्र सह्य न थी। वे बोले, "इस राजद्रोही को ऐसा कठोर दंड दिया जाय कि…" किंतु वे आगे न बोल सके।

उनकी दृष्टि रक्त से लथपथ उस व्यक्ति पर पड़ी और वे बोल उठे, "शीघ्र ही इसकी चिकित्सा की उचितव्यवस्था हो।"

सैनिक अवाक्। उनमें से एक बोल ही उठा, "महा-राज !" उसका आशय समझकर महाराज ने धीर-गंभीर वाणी में उत्तर दिया, "इससे बढ़कर कठोर दंड इसे और क्या दिया जा सकता है ? जिस आवेश में यह बहा था, क्या उसी की शरण हमें भी लेनी चाहिए ?"

आप कौन हैं ?

एक बार राजा भोज और कविवर माघ संध्या-समय भेष बदलकर घूमने निकले। लौटते समय एक स्थान पर उन्हें दो रास्ते दिखाई दिये और वे सही रास्ता न जानकर पसोपेश में पड़ गये। समीप ही एक कुटिया के पास एक बुढ़िया खड़ी थी। वे दोनों उसके पास गये और राजा भोजने उससे पूछा, "री बुढ़िया, यह रास्ता किधर जाता है।

बुढ़िया ने उन दोनों की ओर गौर से देखा और फिर जवाब दिया, "यह रास्ता जाता तो कहीं नहीं, मगर हाँ,

इस रास्ते से यात्री अवश्य जाते हैं। आप लोग हैं कौन ?"

"हम यात्री ही हैं।" राजा भोज ने जवाब दिया।

"मगर यात्री तो केवल दो ही हैं—एक सूरज तथा दूसरा चंद्रमा। इनमें से आप कौन हैं ?"

"जी, हम अतिथि हैं," राजा ने पुनः जवाब दिया।

"अतिथि भी दो ही होते हैं—एक धन और दूसरा यौवन। आप कौन ?" बुढ़िया ने पुनः प्रश्न किया।

"हम राजा हैं।"

"राजा भी दो हैं—इन्द्र तथा यम।"

"हम क्षमावंत हैं।"

"क्षमावंत भी दो हैं—पृथ्वी एवं नारी। मेरा ख्याल है, आप लोग इनमें से कोई भी नहीं।"

"हम परदेसी हैं।"

"परदेसी भी दो हैं—जीव एवं वृक्षपर्ण।"

"हम गरीब हैं।"

"गरीब भी दो ही होते हैं — बकरी और लड़की।"

अब तो वे तंग आ गये। आखिर राजा बोले, "बुढ़िया, हम हार गये।"

"हारने वाले भी दो ही होते हैं—कर्जदार तथा दूसरा वधू-पिता।"

बुढ़िया ने देखा कि वे दोनों काफी खीझ से गये हैं। वह बोली, "मैं बताती हूँ आप लोग कौन हैं ? आप हैं राजा भोज तथा आपके साथी हैं माघ कविजी। आप सामने के रास्ते से उज्जैन की ओर जा पाएँगे।"

मैं क्या करूँ ?

एक दिन बादशाह हुमायूँ बैरामखाँ से बातें कर रहा था और बैरामखाँ अपनी आँखें बन्द किये सुन रहा था। बादशाहने पूछा, "बैराम मन बशुम। मी गुवुम शुमा कर मी कुनद ?" (बैरामखाँ! मैं तुमसे बातें कर रहा हूँ और तुम आँखें बंद करके क्या स्वप्न देख रहे हो ?)

बैरामखाँ बोला —

"कुरबानथ !
शुनम अज बुजुर्गाने शुनीदाह
आम के दर साह मगम हिफाजत साह चीवाम वाजिब
दर हजरत बादशाहाने हिफ्ज चश्म
दर खिदमत दरवेशाने निगाहे दरियाये दिल
दर चश्में इल्मा पासबानी जवान
दर जाते—हुजूर सिफत सह गुना जाने
मी ब नीम फिकरा मी कहानम् कदम—
कदम शाहम रंगाद अदैन !"

(कुरबान जाऊँ, जहाँपनाह ! मैंने अपने बुजुर्गों से सुना है कि तीन अवसरों पर मनुष्य को तीन चीजों का संयम बरतना चाहिए-बादशाह के सामने आँखों का संयम रखना चाहिए, अर्थात विनम्र रहना चाहिए; फकीरों के सामने अपने मन पर पूरा काबू रखना चाहिए तथा विद्वानों के सामने वाणी को कब्जे में रखना चाहिए। लेकिन चूँकि हुजूर में ये तीनों गुण मौजूद हैं, मैं यह निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ कि आखिर मैं क्या करूँ ?)

निजी संपत्ति

शिकार के लिए जंगल में भटकता ईरानी शहंशाह अब्बास स्वच्छंदतापूर्वक बंसरी बजानेवाले उस चारवाहे बालक की हाजिर जवाबी और प्रतिभा का कायल हो गया। उसे शाही दरबार में लाया गया, जहाँ वह एक रत्न सिद्ध हुआ। नाम था उसका—मुहम्मद अली बेग।

शाह अब्बास के बाद उसका अवयस्क पौत्र शाह सफी तख्त पर बैठा। धूर्त खोजों ने शाह के कान भरे कि कोषाध्यक्ष मुहम्मद अलीबेग शाही खजाने का दुरुपयोग करता है। शाह उनकी चाल में आ गया। उसने मुहम्मद अली की हवेली का निरीक्षण किया। चारों ओर सादगी का राज्य था। निराश होकर शाह लौटने लगा कि तभी खोजों के इशारे पर उसका ध्यान एक कक्ष की ओर गया, जिसमें तीन मजबूत ताले लटक रहे थे। "इसमें कौन से लालो-गुहर बंद कर रखे हैं, मुहम्मद ?" शाह ने पूछा।

"लालो-गुहर से भी कीमती चीजें।" मुहम्मद अली सिर झुकाकर बोला, "इसमें मेरी निजी संपत्ति है।"

"लेकिन शासक को प्रजा की निजी संपत्ति तलब करने का भी अधिकार है।" शाह की निगाहें मुहम्मद पर केन्द्रित हो गयीं।

"बेशक परवरदिगार ! लेकिन शासक को उसे छीनने का हक नहीं है।"

"हम उसे देखें तो सही !"

ताले खोल दिये गये। कक्ष के बीचों बीच एक तख्त पर

कुछ चीजें करीने से रखी थीं — एक बंसरी, सुराही, बाजरे का भात रखने की थैलो, लाठो, चरवाहे की पोशाक और दो मोटे ऊनी कंबल।

मुहम्मद बोला, "यही है मेरा लालो-गुहर ! स्व० शाहने जब मुझे पाया था, तब मेरे पास यही चोजें थीं। आज भी 'मेरो निजी' कहने को यही हैं।"

आगे की चिंता क्यों करूँ?

सुप्रसिद्ध दार्शनिक डायोजिनीस का स्वभाव बड़ा ही विचित्र था। इसीलिए लोग उसे 'सनकी' भी कहा करते थे। अपने जीवन के अंतिम क्षणों में समीप खड़े मित्र से वह बोला, "मित्र, क्या तुम मेरी अन्तिम इच्छा पूरी करोगे ?"

"अवश्य" मित्र ने जवाब दिया।

"तो सुनो, मेरी मृत्यु के उपरांत कब्र के झंझट में न पड़ कर मेरी मृत देह जंगल में कहीं भी फेंक आना।"

यह सुन मित्र बेचारा स्तंभित रह गया। बोला, "यह क्या कह रहे हो ? भला तुम्हारी देह को गिद्ध और अन्य पशु-पक्षी नोंच न डालेंगे ?"

"नोंचने दो, उसकी चिंता मुझे क्यों ? खैर तुम वहीं एक लकड़ी खड़ी कर देना।"

मित्र ने सोचा कि डायोजिनीस उन्मादावस्था में है, तभी तो ऊलजलूल बातें किये जा रहा है। वह बोला, "मालूम होता है, तुम्हारी बुद्धि ठिकाने पर नहीं है। भला मृत्यु के उपरान्त तुममें चेतना कहाँ से आएगी और लकड़ी से कैसे अपनी देह की रक्षा कर सकोगे ?"

"जब मृत्यु के उपरांत मुझमें चेतना ही न रहेगी, तो

मैं फिर चेतनाहीन शरीर की फिक्र ही क्योंकर करूँ ? उसे जंगली पशु-पक्षी खाएँ या न खाएँ, मुझे क्या ? अतः उसकी चिंता क्यों करूँ ?"

मित्र बेचारा निरुत्तर रह गया ।

ज्ञान का मोल

चीनी यात्री ह्यु-एन-त्सांग ने नालंदा विश्वविद्यालय में शिक्षा पूर्ण कर कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य भी किया । पश्चात् उसने स्वदेश जाने का निश्चय किया । पन्द्रह चीनी विद्यार्थियों को जब यह खबर लगी कि ह्यु-एन-त्सांग चीन जा रहे हैं, वे भी उसके साथ हो लिए, ताकि उसके सत्संग का अवसर प्राप्त हो । ह्यु-एन-त्सांग ने नालंदा में अध्यापन करते वक्त कुछ ग्रन्थ लिखे थे तथा कुछ खरीदे भी थे, उसने उन्हें भी अपने साथ ले लिये ।

एक नौका तय की गई और वे सारे वहाँ से रवाना हुए । उनका दुर्भाग्य ही कहिये कि रास्ते में तूफान आया और नौका हिंडोले खाने लगी । नाविक ह्यु-एन-त्सांग से बोला, "महाशयजी, यह नाव भारी हो गई है । आगे जाना मुश्किल है । आप कृपया ये मोटी पुस्तकें फेंक दें ।" ह्यु-एन-त्सांग पसोपेश में पड़ गया कि इतने में एक विद्यार्थी खड़ा हुआ और बोला, "गुरुदेव, इन पुस्तकों को कदापि न फेंकिएगा, क्योंकि ये ज्ञानामृत से परिपूर्ण हैं, जिनका हमारे देशवासियों को उपयोग हो सकेगा । हम यदि स्वदेश न भी पहुँचे, तो इससे किसी का नुकसान होने वाला नहीं है ।" यह कहकर उसने अपने साथियों की ओर देखा और वे सारे के सारे विद्यार्थी बिना हिचक के सागर में कूद पड़े !

महारानी द्रौपदी

पांचाल-नरेश द्रुपद का हृदय अपमान की ज्वाला से जला जा रहा था। आचार्य द्रोण से पराजित होने के पश्चात् वे एक दिन भी सुख की नींद न सो सके थे। कैसे इस अपमान का बदला लिया जाय? आचार्य द्रोण क्षात्र-तेज के साथ ब्रह्म-तेज से भी तो संपन्न थे।

महाराज द्रुपद एक ऐसा तेजस्वी पुत्र चाहते थे, जो द्रोण का वध कर उनके मन को शांति दे सके। इसीलिये वे एक ब्राह्मण की खोज में थे जो ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान करा सके जिससे उन्हें ऐसा तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो सके। इसी संधान में भागीरथी के तट पर उन्हें दो तेजस्वी ब्राह्मण कुमार दीख पड़े। द्रुपद उनकी सेवा में लग गये। छोटे भाई याज वीत-राग, त्यागी और तपस्वी ब्राह्मण थे अतः उन्होंने द्रोण का वध कर सकने वाले पुत्र की प्राप्ति के लिए यज्ञ का अनुष्ठान करना स्वीकार न किया, किंतु उन्होंने द्रुपद को यह बता दिया कि उनके बड़े भाई उपयाज यह सकाम यज्ञ करा दे सकते हैं। निरंतर एक वर्ष सेवा करने के पश्चात् तपस्वी याज से महाराज द्रुपद को मात्र यही सूचना मिल पाई।

उपयाज ने यज्ञ का अनुष्ठान कराया। यज्ञ कुण्ड से एक अत्यंत तेजस्वी राजकुमार उत्पन्न हुआ। वह धृष्टद्युम्न था जिसने महाभारत के युद्ध में द्रोणाचार्य का वध किया था। कुमार के आविर्भाव के पश्चात् उस यज्ञ से एक अत्यंत रूपवती कन्या भी प्रकट हुई जो लावण्य और गुण में

अद्वितीय थी। यही वह कन्या थी जो द्रुपददुहिता द्रौपदी कहलाईं। श्यामवर्णा होने के कारण ये कृष्णा के नाम से भी परिचित हुईं।

महाराज द्रुपद अपनी सर्वांगसुंदरी पुत्री का विवाह देवराज इन्द्र की भाँति पराक्रमी, सुन्दर और कुलीन राजपुत्र से करना चाहते थे। उन्हें अपने प्रिय मित्र पाण्डु का स्मरण हो आया। वे पाण्डुनन्दन अर्जुन को अपना दामाद बनाना चाहते थे। किन्तु इसके पूर्व ही दुर्योधन ने पाण्डु-पुत्रों को वारणावत के लाक्षागृह में जिन्दा जला डालने का षड़यंत्र किया था। पाण्डव किसी भाँति वहाँ से बच निकले थे किंतु उनके बच निकलने का समाचार किसी को ज्ञात नहीं था।

अन्ततः पाञ्चाल नरेश ने द्रौपदी के लिए स्वयंवर-सभा करने का निश्चय किया। दूर दूर के राजा-महाराजाओं के पास स्वयंवर के लिए निमंत्रण भेजा गया। निमंत्रण पाकर यथा समय अनेक देश-देशान्तरों के राजे-महाराजे स्वयंवर-सभा में उपस्थित हुए। कुमार धृष्टद्युम्न ने सभा में घोषणा की, "उपस्थित भूपतियो, यहाँ रंगमंच पर एक धनुष और पाँच बाण रखे हुए हैं। जो महारथी उस चाप पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर ऊपर छत में लगे यंत्रस्थ लक्ष्य को भेद कर गिरा देगा, मेरी बहन कृष्णा उसी की पत्नी होगी।"

एक-एक कर पराक्रमी वीर-महारथी उठते, भाटगण तथा कुमार धृष्टद्युम्न कृष्णा को उस वीर का परिचय देते। कोई धनुष को ही उठाने में असमर्थ होता तो कोई प्रत्यञ्चा न चढ़ा पाता। ये महारथीगण गर्वपूर्वक मंच पर जाते

तथा लज्जा और निराशा से श्रीहीन होकर अपने स्थान पर लौट आते।

राजाओं के बीच से एक तेजस्वी युवक उठा। उसका व्यक्तित्व आकर्षक और भव्य था। देखते ही देखते मंच के पास पहुँच कर उसने धनुष उठा लिया। सारा जन समुदाय आश्चर्य से उसकी ओर देख रहा था। दूसरे ही क्षण उसने कठोर धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाली और टंकार देकर लक्ष्य-भेद के लिए सन्नद्ध हो गया।

और तभी लजाती-सकुचाती कृष्णा विद्युत् सी कड़क उठी, "मैं सूतपुत्र का वरण नहीं करूँगी।"

अपमानहत महारथी कर्ण ने चुपचाप धनुष को मंच पर रख दिया और अपने स्थान को लौट गये।

क्या अब कोई वीर महारथी न बचा जो उठकर शर-संधान का साहस करे और अनिंद्य सुन्दरी द्रुपद-दुहिता द्रौपदी को प्राप्त करे? सभी राजे-महाराजे स्तब्ध थे। महाराज द्रुपद आकुल और चिंतित थे। क्या उनकी पुत्री पति-हीना हो जायेगी? क्या कृष्णा को कोई वर प्राप्त न हो सकेगा?

तभी सबों ने विस्फारित नेत्रों से देखा, ब्राह्मणों की मंडली में से एक तेजस्वी ब्राह्मण युवक रंगमंच की ओर सिंह के समान अग्रसर हो रहा है। उसकी भुजाएँ लम्बी और वक्ष-स्थल विशाल है। उसकी चाल में एक विशेष दृढ़ता है।

रंगमंच के पास पहुँचकर युवक ने तीन बार धनुष की परिक्रमा की और प्रणाम कर तुरन्त ही उस पर प्रत्यञ्चा

चढ़ा ली। उपस्थित जनसमुदाय साँस रोककर अपलक उसकी ओर देख रहा था। क्षणमात्र में ही उसने चाप पर शर रखा और दूसरे क्षण लक्ष्य को भेदकर भूमि पर गिरा दिया। शंख गूँज उठे। दुन्दुभियाँ बज उठीं। नगारे गरज उठे। कृष्णा ने लजाते हुए ब्राह्मण कुमार के गले में जयमाला डाल दी।

कुछ क्षणों के लिए क्षत्रियगण अवाक् और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये। ज्योंही उनकी चेतना लौटी, उनमें कुहराम मच गया। कइयों ने चिल्ला कर कहा, 'क्षत्रियों के रहते ब्राह्मण क्षत्रिय-कन्या को ले जाय, यह हमारे लिए असह्य है!' क्षत्रियों का दल कृष्णा का हरण करने ब्राह्मणकुमार पर टूट पड़ा। किन्तु वह ब्राह्मण युवक साक्षात् शिव की भाँति भयंकर शर-संधान करने लगा। उसके प्रबल पराक्रम के सामने कोई रथी-महारथी न टिक सके। उसके पास ही एक विशालकाय अति बलिष्ठ कुमार और भी खड़ा था। उसने एक समूचे वृक्ष को ही उखाड़ लिया और विरोधियों से युद्ध करने को सन्नद्ध हो गया। उसके प्रबल पराक्रम से मद्रराज जैसे बलिष्ठ योद्धा भी हतप्रभ हो गए।

दोनों कुमार सुकुमारी कृष्णा को लेकर अपने आश्रय-स्थल पर पहुँचे। वह विराटनगर के बाहर एक कुम्भकार का घर था। वहाँ पर और भी तीन तेजस्वी ब्राह्मणकुमार थे तथा उनके साथ एक सती साध्वी महिला भी थी।

कुमार धृष्टद्युम्न ने यह दृश्य देखा। वे गुप्त रूप से गुप्त-चरों सहित प्रारंभ से ही इन ब्राह्मणकुमारों का पीछा करते हुए आ रहे थे। कुमारों के व्यवहार, आचरण, और चर्चा

आदि से धृष्टद्युम्न को विश्वास हो गया कि ब्राह्मण वेश-धारी ये कुमार अवश्य ही क्षत्रिय हैं। उन्होंने पिता को जाकर समाचार दिया और आश्वस्त किया कि द्रौपदी अवश्य ही उत्तम कुलीन क्षत्रियकुमार द्वारा ही जीती गई है। यह जानकर द्रुपद निश्चिन्त हुए।

द्रुपद ने पुरोहितों को भेजकर उचित सम्मानपूर्वक ब्राह्मणकुमारों को राजमहल में आमंत्रित किया। उनके आने पर सत्कारादि के पश्चात् द्रुपद ने उनका परिचय जानना चाहा और अपनी शंका व्यक्त की कि—कदाचित् आप सब पान्डु-नंदन पाण्डव और साथ में आपकी माता कुन्ती तो नहीं हैं। युधिष्ठिर ने द्रुपद के कथन की पुष्टि की और अपना परिचय बता दिया। राजा प्रसन्न और गौरवान्वित हुए।

किन्तु एक समस्या थी। जब अर्जुन द्रौपदी को जीत कर भीमसेन के साथ वापस लौटे तब बाहर से ही उन्होंने कहा, "माँ, देखो, हम कितनी अच्छी भिक्षा लाए हैं।" और बिना देखे ही माता कुन्ती ने अन्दर से कह दिया, "पाँचों मिल कर उसका उपभोग करो।" किन्तु जब बाहर आकर उन्होंने द्रौपदी को देखा तो अपने कथन से वे बड़ी दुखी हुईं।

वे सत्यवादिनी थीं। उनके वचन असत्य न हों और धर्म की भी रक्षा हो जाय ऐसा कोई उपाय उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा।

युधिष्ठिर ने देखा, सभी भाइयों की दृष्टि कृष्णा पर स्थिर है और वह सबकी हृदयेश्वरी बन चुकी है। उन्होंने निर्णय

दिया कृष्णा हम सब भाइयों की पत्नी होगी। धौम्य मुनिने एक एक कर सभी भाइयों के साथ पांचाली का पाणि ग्रहण कराया।

पांचाली का पाण्डवों के साथ विवाह एवं पांचालों के साथ उनकी संधि ने धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन को पाण्डवों के प्रति अपनी नीति बदलने के लिए बाध्य कर दिया। धृतराष्ट्र ने उन्हें हस्तिनापुर वापस बुला लिया और आधा राज्य उन्हें दे दिया। अब याज्ञसेनी कृष्णा महारानी द्रौपदी बन गयीं।

द्रौपदी ने अपनी बुद्धिमत्ता तथा मधुर एवं कुशल व्यवहार से पाँचों पाण्डवों का मन मोह लिया। पांचाली का व्यवहार इतना आकर्षक और समान था कि उसके कारण कभी पाण्डव-भ्राताओं में परस्पर कोई विवाद-कलह नहीं हुआ।

पाण्डवों के वनवास-काल में एकबार भगवान् श्रीकृष्ण अपनी पत्नी सत्यभामा के साथ पाण्डवों से मिलने के लिए वन में गए। वहाँ दोनों सखियाँ, द्रौपदी और सत्यभामा एक दूसरे से मिलकर अत्यंत प्रसन्न हुईं। सत्य-भामा ने कुछ ही क्षणों में द्रौपदी की व्यवहार-कुशलता को भाँप लिया। वे बड़ी प्रभावित हुईं और द्रौपदी को एकांत में ले जाकर उनसे पूछा, "बहन, वह कौनसा उपाय है जिससे तुम्हारे पति सदैव तुम्हारे आधीन रहते हैं? मुझे भी ऐसी कोई जड़ी-बूटी, व्रत-उपवास, मंत्रादि बता दो जिससे श्यामसुन्दर सदैव मेरे आधीन रहें।"

सत्यभामा के इस प्रश्न का जो उत्तर साध्वी द्रौपदी ने

दिया है, उससे उनके चरित्र की महानता का हमें स्पष्ट बोध होता है। उनका उत्तर आज भी साध्वी पत्नियों के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय है। उन्होंने कहा था, सत्ये! पति को वश में रखने की जो बात तुम पूछ रही हो वह सती स्त्रियों को शोभा नहीं देती। वह तो दुराचारिणी एवं कुलटा स्त्रियों का आचरण है। इसप्रकार का प्रश्न करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। यदि पति को पत्नी का यह कपटपूर्ण व्यवहार ज्ञात हो जाय तो उससे सारी शांति नष्ट हो जाती है और दाम्पत्य जीवन घोर नरक हो जाता है।

"मैं स्वयं अपने पतियों के साथ जैसा व्यवहार करती हूँ वह तुम्हें बताती हूँ; ध्यान से सुनो। मैं अहंकार और काम-क्रोध को छोड़कर सदैव सावधानी पूर्वक उनकी सेवा करती हूँ। अपनी इच्छाओं का दमन कर केवल सेवा के लिए अपने पतियों की इच्छा पूरी करती हूँ। अंहकार और अभिमान को मैं अपने पास नहीं फटकने देती। कभी मेरे मुँह से कोई अनुचित बात न निकल जाय इसके लिए सदा सावधान रहती हूँ। पतियों के अभिप्रायपूर्ण संकेतों का सदा अनुसरण करती हूँ। जब पति कभी बाहर से घर आते हैं, तब उनका अभिनंदन करती हूँ। मेरी पतिभक्ति और पति-सेवा ही मेरा वशीकरण मंत्र है।"

द्रुपददुहिता की उदारता और क्षमाशीलता अद्भुत थी। एक समय वह अपने पतियों के साथ काम्य वन में निवास कर रही थीं। एक दिन पाण्डव शिकार खेलने गए थे। कृष्णा कुटिया में अकेली थीं। दुर्बुद्धि सिन्धुराज

जयद्रथ उसी मार्ग से कहीं जा रहा था। द्रौपदी को देख कर उसका मन विचलित हो गया। कामान्ध सिन्धुराज ने बलपूर्वक पाण्डुपुत्रवधू का हरण करने का प्रयास किया। द्रौपदी ने निर्भीक होकर उसे फटकार लगाई और अपने महापराक्रमी पतियों के शौर्य का वर्णन कर उसे चेतावनी दी। किंतु वह मंदबुद्धि न माना। अंततः पाण्डवों ने अपने पराक्रम से जयद्रथ की सेना का नाश कर दिया तथा उसे बंदी बना लिया। बंदी जयद्रथ को भीमसेन ने जब महाराज युधिष्ठिर के सामने उपस्थित किया तो करुणा के वश हो द्रौपदी ने अपने ऊपर अत्याचार करनेवाले उस दुष्ट को छोड़ देने को कहा।

कृष्णा की कर्त्तव्यपरायणता का एक उदाहरण देखिए। पाडवों के वनवास की दीर्घ द्वादशवर्षीय अवधि समाप्त हो गई थी। अब उन्हें एक वर्ष अज्ञातवास करना था। इसके लिए वे विराटनगर पहुँचे। सभी भाइयों ने अपने अपने लिए कार्य चुन लिया। किंतु महाराज युधिष्ठिर अपनी प्राणप्रिया पत्नी के लिए चिन्तित थे। कोमलांगिनी द्रौपदी कहाँ रहें ? कैसे रहें ? क्या कार्य करें ? चतुर द्रौपदी ने राजा की व्यथा भाँप ली और स्वयं बोलीं, महाराज, आप चिंता न करें, मैं सैरन्ध्री के रूप में विराट के अन्तःपुर में रहूँगी।" कर्त्तव्यपरायणा द्रुपदसुता ने स्वेच्छा से दासीत्व स्वीकार कर लिया।

सहनशीलता और धैर्य की प्रतिमूर्ति द्रौपदी आततायी कौरवों द्वारा किए गए अपमान को कभी न भूल सकीं।

अत्याचारियों को उचित दण्ड देकर उनका नाश करने के लिए वह कटिबद्ध थीं। अज्ञातवास की समाप्ति के पश्चात् जब पाण्डवों ने कौरवों से संधि की चर्चा की, तब युधिष्ठिर और भीम की संधि-संबन्धी बातों को सुनकर, स्वाभिमानिनी निजपतिगर्विता द्रुपददुहिता द्रौपदी का हृदय विदीर्ण हो गया। संधि-प्रस्ताव लेकर जाते हुए भगवान् वासुदेव से उन्होंने कहा था, "मधुसूदन ! मैं धर्म से धृतराष्ट्र और भीष्म दोनों की पुत्र वधू हूँ। तो भी मुझे उनके सामने बलपूर्वक दासी बनाया गया था। भगवन् ! ऐसी दशा में यदि दुर्योधन एक मुहूर्त भी जीवित रहता है तो अर्जुन के गाण्डीव-धारण और भीम के बल को धिक्कार है !" इतना ही नहीं, रोती हुई कृष्णा ने अपने खुले केश हाथ में लेकर श्रीकृष्ण को दिखाते हुए कहा था,

"श्रीकृष्ण ! शत्रुओं के साथ संधि की इच्छा से आप जो भी करें, पर पापी दुःशासन द्वारा खींचे गए इन केशों का स्मरण रखना। मधुसूदन ! यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर सन्धि की कामना करने लगे हैं तो मेरे वृद्ध-पिता अपने महारथी पुत्रों के साथ शत्रुओं से युद्ध करेंगे। मेरे पाँचों पराक्रमी पुत्र अभिमन्यु को प्रधान बनाकर शत्रुओं का नाश करेंगे। भगवन्, जब तक मैं दुःशासन की भुजाओं को कटकर धूल में लोटती हुई न देख लूँ, तब तक क्या मुझे शांति मिल सकती है ? प्रज्वलित अग्नि की भाँति इस क्रोध को हृदय में रखकर प्रतीक्षा करते हुए मुझे सुदीर्घ तेरह वर्ष हो गए हैं !"

महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। महाराज युधिष्ठिर के मन में शोक जन्य वैराग्य जागा और उन्होंने राज्य छोड़ कर संन्यास लेने का विचार किया। उस समय विदुषी द्रुपद-दुहिता ने युधिष्ठिर को कर्म में प्रवृत्त करने के लिए जो नीति-पूर्ण परामर्श दिया था वह आज भी उतना ही ओजस्वी एवं प्रेरक है तथा महारानी द्रौपदी के महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। कृष्णा ने कहा था, "राजन्! जो कायर और नपुंसक है वह पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। वह न तो धन उपार्जन कर सकता है और न ही उसे भोग सकता है। आपको यह पृथ्वी न तो शास्त्रों के सुनने से प्राप्त हुई है और न कहीं से दान में ही प्राप्त हुई है, न ही किसी के समझाने-बुझाने से ही उपलब्ध हुई है। आपने पराक्रम-पूर्वक युद्धभूमि में अपने शत्रुओं का वध कर इस वसुंधरा को जीता है। अतः आप इसका उपभोग करें। नरेश्वर! धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए इस पृथ्वी पर शासन कीजिए। इस प्रकार उदासीन न होइए।"

महाराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण के पश्चात् द्रौपदी बड़ी श्रद्धा और आदर से अपनी सास कुन्ती और गांधारी की सेवा करती रहीं। उनके इन्हीं गुणों पर मुग्ध होकर महात्मा विदुर ने ऋषियों को पाण्डवों का परिचय देते हुए कहा था, "द्रौपदी तो मूर्तिमती लक्ष्मी ही हैं।"

वाह रे मनुष्य तेरी बुद्धि

सेठ हरिकिशनदास अग्रवाल, बम्बई

मनुष्य अपनी बुद्धि की डींग हांकता है किन्तु स्वार्थान्ध होकर बुद्धि अपना विवेक खो बैठती है और उसे सत्-असत, कर्तव्य-अकर्तव्य का कुछ पता नहीं रहता। मनुष्य जितना अपनी बुद्धि का मारा हुआ है, उतना इसे किसी और ने नहीं मारा। इसकी स्वार्थभरी बुद्धि ही यह बात कहती है कि अमुक प्राणी को मारकर खाने में क्या हर्ज है ? ईश्वर ने सारे जीव-प्राणी तो मनुष्य के लिए ही बनाए हैं। वह यह नहीं समझता कि जो जीवत्व मनुष्य में है, वही पशु में भी है। पशु में भिन्न आत्मा है और मनुष्य में भिन्न, यह बात कदापि नहीं। एक ही आत्मा सबमें व्याप्त है।

इस समय गो-वध का प्रश्न सारे देश भर में खड़ा है। हमारी सरकार के कुछ मंत्री तथा अधिकारी यह सोचते हैं कि गाय-बैल, खास करके बूढ़े, शक्तिहीन, को खत्म करके खा जाने में देश की भलाई है और अन्न की विकट समस्या हल हो जायेगी। जब किसी प्राणी के गले पर छुरी चलाई जाती है और उसे निर्दयतापूर्वक काटा जाता है, तो उसके हृदयसे एक आह निकलती है, और वह आह वातावरण को दूषित करती है तथा कभी खाली नहीं जाती। ईश्वर का यह अटल नियम है कि जो कोई करेगा वही भरेगा भी। जो आज किसी के गले पर छुरी चलाता है, उसके गले पर

छुरी चलानेवाला भी कोई अवश्य होगा। आज की यह आहें और पुकारें इतनी इकट्ठी हो गई हैं कि संसार का संतुलन ही बिगड़ गया है। कहीं पर भूकम्प आ रहे हैं और हजारों मनुष्यों की मृत्यु हो रही है, कहीं पर दुष्काल है, कहीं पर बढ़ी हुई खेती अति-वर्षा और बाढ़ के कारण बही जा रही है। कहीं पर बीमारी फैल रही है। कहीं पर लड़ाई के बादल छा रहे हैं। किसी देश के राजनीतिज्ञ के मस्तिष्क में गर्मी आई और उसने अणुशक्ति सम्पन्न हाइड्रोजन-नाइट्रोजन बम चलाने की आज्ञा दे दी तो आधे से ज्यादा संसार नेस्तनाबूद हो जायेगा; मनुष्य जहाँ है, वहीं जल-भुनकर खाक हो जायेगा। बचे-खुचे लोग रेडियो सक्रिय धूल से अपंग और रोगग्रस्त हो जायेंगे। यह होगा मनुष्य की असंतुलित बुद्धि का परिणाम। क्या बुद्धि का यही उपयोग है ? क्या भगवान् ने इसी प्रकार की उन्नति के लिए हमें बुद्धि दी है जब आणविक बम का परीक्षण किया जाता है तो परीक्षण में ही लाखों करोड़ों प्राणियों की हत्या हो जाती है और उन मृतक प्राणियों के खानेवालों को भी रोग हो जाता है तथा उन्हें जो खाते है वे भी रोगग्रस्त हो जाते हैं। इस तरह सारा वायुमण्डल ही दूषित हो जाता है। इस सब का परिणाम है कि जगह-जगह दुष्काल, अनाज की समस्या और प्राकृतिक प्रकोप आदि देखने में आ रहे हैं।

लोग इसका हल प्राणियों को मार कर करना चाहते हैं। यह युक्ति-संगत बात नहीं है बल्कि मनुष्य की उलटी खोपड़ी का परिणाम है। जिन लोगों की यह दलील है कि

अगर मनुष्य संसार में पशुओं को नहीं मारकर खायेगा तो संसार में इतने पशु हो जायेंगे कि संसार में रहने की जगह तिल भर नहीं रह जायेगी, हम ऐसे सोचनेवालों से पूछते हैं कि शेर-चीते इत्यादि और कई प्रकार के जानवर जो खाये नहीं जाते कितने बढ़ गए हैं ? प्रकृति भी तो अपना काम करती है। समय आने पर पशु भी उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होता है जैसे कि मनुष्य। मनुष्य जो कि अपनी बुद्धिमानी का अभिमान करता है उसको पूछना चाहिए कि उसके मरने के बाद क्या कोई उसकी लाश के लिए दो कौड़ी भी चुकाता है ? अपितु उसको जलाने के लिए लकड़ियाँ अथवा दफनाने का खर्च अलग करना पड़ता है। गाय-बैल इत्यादि पशुओं की तो लाश की भी कीमत है, कम से कम उसकी खाल का तो उपयोग होता है। हड्डियाँ फासफोरस बनकर खाद का काम करती हैं। उनके सींगों की अच्छी सजावटदार नावेल्टीज बनती हैं। किन्तु वाह रे मारनेवाले मनुष्य ! मरने के बाद तेरा कुछ भी काम में नहीं आता !

पशु वह है, जो अपने पेट की ओर देखता है। जो मनुष्य अपने पेट की ओर देखकर दूसरों की हत्या का निमित्त बनता है वह दोहरा पशु है। जो दूसरे के पेट की ओर ध्यान रखता है वह परोपकारी पारमार्थिक जीव है। गाय दूध देती है, उसका गोबर खाद के काम आता है, उसका मूत्र आयुर्वेदिक औषधियों तथा रोगों की दवा और शुद्धि के काम आता है। जहाँ पर गाय के गोबर का लेपन होता है, वह जगह शुद्ध कीटाणुरहित हो जाती है। किन्तु मुर्दे

के ऊपर ढका हुआ दुशाला साफ होता है किन्तु पवित्र नहीं। दिवाली के मूहूर्त पर पूजन की सामग्री से की हुई बहियों की पूजा देखने में साफ नहीं किन्तु पवित्र है, किन्तु जहाँ गाय के गोबर से लिपाई होती है, वहाँ पर सफाई और पवित्रता दोनों हैं। जहाँ पर गाएँ रहती हैं, वहाँ पर स्वभावतः घास-हरियाली इत्यादि अधिक पैदा होती है। हर एक प्राणी इस संसार में अपना-अपना प्रारब्ध अपना-अपना चारा लेकर आता है। जिस जंगल में जिस भूमि पर गाय का गोबर पड़ता है उस भूमि की स्वाभाविक रूप से उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है। गाय, चाहे वह दूध देनेवाली हो, चाहे बूढ़ी, यदि उसके गोबर का ही मूल्यांकन करें तो ईश्वर उसी गोबर के परिणाम स्वरूप उत्पादन के रूप में अधिक घास इत्यादि पैदा कर देता है। गाय एक ऐसा पशु है, जो अपने पेट की ओर नहीं किन्तु दूसरों के पेट की ओर देखती है। वह मनुष्य को दूध पिलाकर हृष्ट-पुष्ट करती है। गाय जीते-जी भी परोपकार करती है और मरकर भी। इस पशु में जो मनुष्यत्व पाया जाता है, वह किसी-किसी मनुष्य में भी नहीं। इतना उपयोगी पशु होते हुए भी उसी के गले पर हम छुरी फेरना चाहते हैं। चुनाव-चिन्ह बनाकर, उसका नाम लेकर अपना चुनाव करवाना चाहते हैं। उसको ही प्रतीक मानते हैं और उसी को हलाल करते हैं-इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है ?

यह भी कहा जाता है कि बूढ़े गाय-बैल अनुपयोगी हो जाते हैं, इसलिए उन्हें मार देने में कोई हर्ज नहीं। अगर यह

दलील बिलकुल सत्य है, तो घर में बूढ़े माँ-बाप जो अवस्था के कारण निकम्मे और शक्तिहीन हो जाते हैं, उन्हें भी समाप्त कर देना चाहिए।

मनुष्य इतना स्वार्थान्ध हो गया है कि उसकी विवेक-विचार-शक्ति काम नहीं कर रही है। एक समय था कि भारत में दूध की नदियाँ बहती थीं। जिसके पास दस लाख गायें होती थीं उसे नन्द कहते थे। आज बड़े-बड़े शहरों में गाय को घर में बाँधना नगरपालिका की तरफ से मना है। घर में कुत्ते पालने की रुकावट नहीं किन्तु शहर में कोई मनुष्य घर में गाय नहीं पाल सकता। जब इस प्रकार की हमारी विचारधारा बन गई है तो हमारे देश में खाद्य समस्या नहीं होगी तो और होगा क्या ? लोग भूखे नहीं मरेंगे तो और क्या होगा ? जिस गाय ने हमें माँ की तरह दूध पिलाकर पाला है, जो हमें अपना सर्वस्व देकर कृषि-उत्पादन आदि कराती है, उसी के प्रति हम क्रूरता का व्यव-हार करेंगे, तो यही हाल होगा जो आज सर्वत्र देखने में आ रहा है।

बहुत से मनुष्य अपने आपको नान-वेजेटेरियन कहने में गर्व का अनुभव करते हैं। यह इसी प्रकार है ;जैसे कि अंग्रेजों के जमाने में हिन्दुओं को नान-मुस्लिम कहकर पुकारा जाता था। और अगर हिन्दू अपने को नान-मुश्लिम कह-लाने में गौरव अनुभव करे तो इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी ! बात सीधी और सरल होनी चाहिए, न कि घूम फिरकर टेढ़ी। हिन्दू को हिन्दू ही कहना चाहिए। जिस

प्रकार शाकाहारियों के लिए अंग्रेजीमें वेजीटेरियन अनुवाद ठीक है, इसी तरह मांसाहारी को मीट ईटर अथवा एनीमल ईटर्स कहना चाहिए। कोई मांसाहारी व्यक्ति जानवर-खाऊ होते हुए भी अपने आपको जानवर-खाऊ कहलाने को तैयार क्यों नहीं है ? उसे सत्य चुभता क्यों है ? किसी पशु की हत्या करके उसके मांस का भक्षण पशु खाना ही तो है। इसलिए पशु-खाऊ या जानवर-खाऊ कहलाने में आपत्ति क्या ? आपत्ति केवल इतनी हो सकती है कि अंतरात्मा की आवाज इस प्रकार के प्राणियों की हत्या के विरुद्ध उठती है किन्तु हम उस आवाज को अपनी ही बनाई-मानी कुशल बुद्धि की विपरीत युक्तियों द्वारा दबा बैठते हैं। दूसरों को दुःखी कर आप भी दुःखी होते हैं। वाह रे मनुष्य तेरी बुद्धि!

गाय के दूध में जो विशेषता है, वह और किसी प्राणी के दूध में नहीं। गाय के दूध से मेधा बढ़ती है और स्मरण शक्ति तीव्र होती है। बीच में पत्रों में निकला था कि किसी मंत्री ने ऊँटनी का दूध पीने के लिए सलाह दी है और पत्रों में यह भी पढ़ा गया है कि खाद्य समस्या के हल के लिए मनुष्य को चूहे खाने चाहिए। यह भी एक विपरीत विचार का ही परिणाम है। वाह रे मनुष्य तेरी बुद्धि।

देश की अनाज की विकट समस्या का हल गोहत्या से नहीं किन्तु गोसंवर्धन से होगा। यह भी देश का एक धन है। धन का विनाश करने से वह बढ़ता नहीं किन्तु बढ़ाने से बढ़ता है।

स्वामी तुरीयानन्द
और
अमेरिका में वेदान्त प्रचार

स्वामी व्योमानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर

"हरि है विश्व का और विश्व है हरिका"— यह थे श्रीचन्द्रनाथ चटर्जीके आखिरी शब्द अपने कनिष्ठ पुत्र हरि के सम्बन्ध में। हरि की आयु उस समय बारह वर्ष की थी। और सचमुच ही यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हुई—हरि का सारा जीवन विश्वकल्याण के लिए समर्पित रहा तथा सार विश्व ही हरि का हुआ। इसी हरि ने जब चौबीस वर्ष की आयु में सन् १८८७ ई० में विश्वसेवा तथा विश्वकल्याण — 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'— का व्रत लेकर प्रभु के चरणों में अपना जीवन अर्पित कर संन्यास-ग्रहण किया, तब उनका नाम हुआ स्वामी तुरीयानन्द।

बाल्यावस्था से ही हरि गायत्रीजप, सन्ध्या, पूजा, जप-ध्यान, तीन बार गंगास्नान तथा हविष्यान्न-भोजन आदि किया करते थे; साथ ही उपनिषद्, गीता, रामायण, चंडी तथा विवेकचूड़ामणि आदि शास्त्र-ग्रन्थों के स्वाध्याय में रत रहते थे। केवल अध्ययन से ही उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। दैनन्दिन जीवन में नित्यानित्यवस्तुविवेक का पथ

अवलम्बन कर आध्यात्मिक जीवन गढ़ने का सतत प्रयास जारी रहता। गंगास्नान में उनकी भक्ति प्रगाढ़ थी, इसलिए उस उत्साह में गंगास्नान के लिए कभी-कभी रात को दो-तीन बजे ही चले जाते तथा सूर्योदय तक नियमित रूप से भगवान् का ध्यान करते। उसी समय उनके जीवन में एक मार्मिक घटना घटी। एक दिन बहुत तड़के अँधेरे में वे गंगास्नान कर रहे थे कि उन्हें निकट ही कोई वस्तु तैरती हुई दिखायी दी। गंगातीर पर और भी स्नानार्थी थे। वे तुरन्त ही चिल्ला उठे, "मगर, मगर, जल्द ही बाहर आओ!" स्वभाववश बालक हरि किनारे की ओर दौड़े। किन्तु ज्यों ही किनारे पर आये, वे सोचने लगे—"मैं यह क्या कर रहा हूँ? दिन-रात तो 'सोऽहं सोऽहं' का जाप करता हूँ और 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' इस वेदान्त-वाक्य का मनन करता हूँ, किन्तु यह क्या हो रहा है? मगर के भय से तुरन्त ही आदर्श को भूल गया और सोचने लगा कि मैं शरीर हूँ! धिक्कार है मुझे!" यह विचार आते ही वे तुरन्त गंगाजी में पुनः स्नान करने उतर गये। इस अल्प अवस्था में ही उनके मन पर वेदान्त का इतना गम्भीर प्रभाव पड़ा था!

इसी बीच जब हरि की आयु १३-१४ वर्ष की थी, भगवान् श्रीरामकृष्ण एक दिन दक्षिणेश्वर से कलकत्ता के बागबाजार मुहल्ले में किसी भक्त के यहाँ आये। हरि का घर बागबाजार में ही था। जब उन्होंने यह सुना तो कुछ बालक-मित्रोंके साथ वे भी उनका दर्शन करने गये। गाड़ी से श्रीरामकृष्णदेव को भाव-गद्गद् अवस्था में उतरते देखा,

श्रीमुख पर अवर्णनीय देवकान्ति थी। एकदम हरि के मन में विचार दौड़ा, "मैं शास्त्र मेंने शुकदेव की समाधि-अवस्था के बारे में पढ़ा है। क्या ये वही शुकदेव हैं ?" यह था हरि का अपने भगवान् श्रीरामकृष्ण का प्रथम दर्शन। इसके उपरान्त दो-तीन वर्ष बीत गये। हरि साधन भजन में मग्न रहते—त्याग, तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा शास्त्र-अध्ययन में रत। साथ ही स्कूल में पढ़ता भी जारी था। इसी समय उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि मैं विवाह नहीं करूँगा, आदर्श ब्रह्मचारी का जीवन यापन करूँगा।

सन् १८८० ई० में प्रथम बार हरि दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने गये। हरि के शरीरिक लक्षण को देखते ही श्रीरामकृष्ण पहचान गये कि यह बालक उनका अन्तरंग प्रिय संन्यासी शिष्य है और वे उन्हें उसी प्रकार आध्यात्मिक शिक्षा देने लगे। हरि ने पूछा, "महाराज, जब मैं आपके निकट रहता हूँ तब मेरा मन बहुत ही प्रफुल्लित तथा उच्च स्तर पर रहता है, किन्तु ज्यों ही मैं कलकत्ता लौटता हूँ, यह भाव चला जाता है। ऐसा क्यों होता है ?" श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त उत्तर दिया, "ऐसा कैसे होगा ? तू तो हरि-दास है, हरि का दास है। भगवान् को भूलकर रहना तेरे लिए क्या कभी सम्भव हो सकता है ?" हरि ने कहा, "यह बात तो मेरी समझ के बाहर है।" श्रीरामकृष्ण बोले, "सत्य किसी के समझने या न समझने पर निर्भर नहीं रहता। तू जान या न जान, तू तो हरि का दास है, भगवान् का भक्त है।"

गुरु-शिष्य में इस प्रकार मिलन होता रहा। शिष्य हरि श्रीरामकृष्णदेव के निकट अपने हृदय-कपाट असंकुचित भाव से खोल देते थे। दोनों के बीच प्रेम का ही सूत्र-बन्धन था। श्रीरामकृष्णदेव के परम पवित्र जीवन को देखकर, जगन्माता के सम्मुख उनका देवशिशु सदृश भाव देखकर, भगवान् के प्रति सोलहों आना विश्वास देखकर एवं सर्वोपरि उनका आपार स्नेह तथा कृपा पाकर युवक हरि उनके अत्यधिक निकट आ गया। एक दिन हरि ने श्रीरामकृष्णदेव से कहा कि वह नारी जाति को देख तक नहीं सकता। तुरन्त ही श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "तू तो मूर्ख जैसी बातें कर रहा है! नारी को घृणा-दृष्टि से देखता है? ऐसा क्यों? वे तो जगन्माता की मूर्ति हैं, जगन्माता के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। आदर के साथ उन्हें प्रणाम करना। उनके प्रभाव से मुक्त होने का यही एकमेव पथ है।" इन इने-गिने प्रेरणापूर्ण शब्दों ने हरि के जीवन को सम्पूर्णतया अन्य दिशा में मोड़ दिया; सारा जीवन नारी-मात्र को वे आदर, श्रद्धा तथा भक्ति की दृष्टि से देखने लगे, क्योंकि अब तो हरि की दृष्टि में वे सब जगन्माता के विभिन्न रूप थे। आध्यात्मिक जीवन की एक बड़ी बाधा हरि के पथ से दूर हो गयी। छोटी-छोटी, घटनाओं के द्वारा श्रीरामकृष्ण हरि का जीवन गढ़ रहे थे जिससे उन्हें वेदान्तोक्त परम सत्य की साक्षात् उपलब्धि हो जाय, उनका जीवन भगवन्मय हो जाय।

एक समय हरि के मन में यह विचार आया कि

शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन किये बिना वेदान्त की धारणा नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पास जाना कुछ कम कर दिया तथा पूरा समय वेदान्त-चर्चा, तर्क-विचार, शास्त्र-अध्ययन आदि में ही लगाने लगे। श्रीरामकृष्ण की तीक्ष्ण दृष्टि से यह बात छिपी न रह सकी। कुछ दिन बाद हरि दक्षिणेश्वर श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने गये। उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "क्यों रे, सुना है तू आजकल बहुत वेदान्त-विचार करता है? बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। किन्तु वेदान्त-चर्चा तो सिर्फ यही है न—ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या — या और कुछ है?" हरि ने कहा, "हाँ महाराज, इसके सिवाय और क्या?" श्रीरामकृष्णदेव के कथन से हरि के हृदय में पूर्ण परिवर्तन हो गया, उनकी आँखें खुल गयीं। उन्हें मालूम हो गया कि केवल किताबी ज्ञान से कुछ नहीं होता। उन्होंने हृदय में अनुभव किया कि भगवान् ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है और इस महान् सत्य की प्रत्यक्ष उपलब्धि करना ही वेदान्त का ध्येय है।

श्रीरामकृष्ण हरि से कहने लगे, "श्रवण, मनन, निदिध्यासन। पहले 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या'— यह सुन लिया। फिर मनन—विवेक-विचार द्वारा इसे मनमें पक्का बिठा लिया। उसके बाद निदिध्यासन — मिथ्या वस्तु अर्थात् जगत् को त्याग कर सद्-वस्तु ब्रह्म के ध्यान में मन को लगा दिया। — बस इतना ही। किन्तु ऐसा न कर सिर्फ सुन लिया, समझ लिया, पर जो मिथ्या है उसे त्यागने का प्रयत्न ही नहीं किया तो उससे क्या होगा? यह तो सांसारिक लोगों के

ज्ञानके समान हुआ। ऐसे ज्ञान से वस्तु-लाभ नहीं होता। धारणा चाहिए, त्याग चाहिये — तब तो कुछ होगा।"

श्रीरामकृष्णदेव के उस दिन के कथन से हरि ने यह दृढ़ निश्चय किया कि अब शास्त्र-ग्रन्थ आदि के अध्ययन की अपेक्षा साधन-भजन में ही अधिक मन लगाऊँगा तथा उसके द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार करूँगा। हरि की इस धारणा में भी थोड़ा सा भ्रम था जो श्रीरामकृष्ण के एक अन्य उपदेश द्वारा दूर हो गया। एक दिन श्रीरामकृष्ण बागबाजार में बलराम बसु के यहाँ आये थे। भक्तमण्डली में हरि भी विद्यमान थे। श्रीरामकृष्ण सभी को समझा रहे थे — "ज्ञान हो, भक्ति हो अथवा दर्शन, भगवान् की कृपा बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।....स्वयं साधना के द्वारा मनुष्य क्या कभी भगवान् की धारणा कर सकता है ? उसमें शक्ति ही कितनी है ! उस शक्ति के आधार पर वह प्रयास ही कितना कर सकता है ?" यह कहते कहते श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये। कुछ देर बाद ऊर्धबाह्य अवस्था में आने पर वे एक भजन गाने लगे, दोनों नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। भजन का तात्पर्य था – 'अरे लव-कुश, तुम किस बात का गर्व करते हो ? यदि मैं स्वयं हाथ न आता, तो क्या तुम मुझे पकड़ सकते थे ?' पूर्ण शरणागति का उपदेश हरि को मिल गया। उपनिषद् में भी तो यही बात कही है— 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'—परमात्मा जिस पर कृपा करते हैं उसी को वे मिलते हैं।

श्रीरामकृष्ण की इस अपूर्व, अतुलनीय, प्रेमपूर्ण अवस्था

को देखकर हरि भी स्वयं को सँभाल न सके, उनकी आँखों से भी आँसू बहने लगे। बाद में इस घटना का स्मरण कर हरि ने कहा था, "वह शिक्षा चिरकाल के लिए मेरे हृदय में अंकित हो गयी है। उसी दिन से मैं यह समझ गया कि भगवत्कृपा बिना कुछ नहीं हो सकता।" संत तुलसीदास ने भी तो यही कहा है — 'सोई जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।'

एक दिन दक्षिणेश्वर में हरि ने देखा कि श्रीरामकृष्ण वेदान्त के एक पंडितजी से कह रहे हैं, "कुछ वेदान्त सुनाओ।" पंडितजी ने करीब एक घंटे तक यथाशक्ति वेदान्त की व्याख्या की। श्रीरामकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए तथा पंडितजी की प्रशंसा करने के उपरान्त भक्त-मण्डली से कहने लगे, "किन्तु भाई, मुझे इतना विचार-तर्क अच्छा नहीं लगता। मेरी माँ (जगन्माता) हैं और मैं हूँ। तुम लोगों को ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता, ध्यान-ध्येय-ध्याता इत्यादि त्रिपुटी अच्छी लगती है, यह बहुत सुन्दर बात है। किन्तु मुझे तो माँ और मैं, बस यही अच्छा लगता है।" श्रीरामकृष्णदेव के कथन तथा भाव से वेदान्त की त्रिपुटी की अपेक्षा हरि को उनकी 'माँ और मैं' की वाणी ही अधिक सहज, सरल तथा मधुर लगी। उन्होंने समझ लिया कि 'माँ और मैं'—यही उनके लिए यथार्थ एवं अवलम्बनीय मार्ग है। वेदान्त की चरम अनुभूति भी तो यही है। इस 'माँ और मैं' नेति-नेति और इति-इति दोनों आ जाते हैं। इस 'माँ और मैं' में जो आन्तरिक प्रगाढ़ प्रेम है, वही साधक को व्रजगोपिकाओं की भाँति अपने इष्टदेव के

साथ एकत्व का अनुभव करा देता है। तब 'मैं' पूर्ण रूप से 'ब्रह्म' में लीन हो जाता है। उस समाधि-अवस्था से मन जब धीरे धीरे व्युत्थान में आता है, तो सर्वत्र ही उसे ब्रह्मदर्शन होता है, शास्त्रों में वर्णित 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की सदा-सर्वदा अनुभूति होती है।

हरि का मन सदैव निर्वाण-अवस्था को प्राप्त करने के लिए लालायित रहता था। इसे लक्ष्यकर श्रीरामकृष्ण ने एक दिन प्यार से डाँटते हुए कहा, "तू यह क्यों सोचता है कि निर्वाण-प्राप्ति ही जीवन का ध्येय है? निर्वाण से भी उच्च अवस्था है तथा उसकी प्राप्ति की जा सकती है। जो लोग केवल निर्वाण चाहते हैं उनकी तो हीन बुद्धि है।...... पासा के खेल में पक्का खिलाड़ी तो वही है जो गोटी पक जाने पर भी उसे फिर से कच्ची कर देता है। और फिर ज्यों ही वह पासा फेंकता है, गोटी पक्की हो जाती है। इसलिए भय नहीं, निर्भय होकर खेल।" इसी अवस्था को श्रीरामकृष्ण अपने एक प्रिय भजन की पंक्ति को गाकर कहा करते थे—'जो कुछ है सो तू ही है।'

इस प्रकार भगवान् श्रीरामकृष्ण के चरणकमलों में बैठकर तथा उनके निर्देशानुसार साधन-भजन कर हरि श्रीरामकृष्ण के तिरोभाव के पूर्व ही प्रभु-कृपा से 'पूर्ण' हो चुके थे, आत्माराम, आत्मकाम बन गये थे, वे सचमुच ही हरिमय हो गये थे।

× × ×

जैसा कि पहले बतलाया गया है, श्रीरामकृष्ण के

तिरोभाव के बाद संन्यास ग्रहण करने पर हरि स्वामी तुरीयानन्द के नाम से विख्यात हुए। परिव्राजक के रूप में भारत के अनेक तीर्थस्थानों में भ्रमण करते हुए स्वामी तुरीयानन्दजी कठोर तपस्या में लीन हो जाते थे, आध्यात्मिक अनुभूति के राज्य में उनका मन सदैव विचरण करता था। हिमालय, ऋषिकेश, गंगोत्री, ज्वालामुखी, बनारस, वैद्यनाथधाम, वृन्दावन, अयोध्या, उत्तरकाशी आदि बहुत से स्थानों में वे दीर्घकाल तक रहे थे। जो भी उनके सम्पर्क में आते थे, उनके दिव्य जीवन को देखकर गम्भीर रूप से आकर्षित हो जाते थे। श्रीरामकृष्ण ने एक बार अपने मानस-पुत्र राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) से कहा था कि तू हरि का संग करना। इसे स्मरण कर लगभग छः वर्ष तक स्वामी ब्रह्मानन्द भिन्न भिन्न तीर्थस्थानों में तपस्या करते हुए स्वामी तुरीयानन्द के साथ रहे थे।

स्वामी विवेकानन्द अमेरिका, इङ्गलैण्ड आदि देशों में कई वर्ष तक वेदान्त का प्रचार कर भारत वापस आये तथा यहाँ भी उन्हें कोलम्बो से काश्मीर तक निरन्तर व्याख्यान देना पड़ा। फ़लस्वरूप उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। डाक्टरों तथा गुरुभाइयों ने उन्हें समुद्र-यात्रा करने की सलाह दी जिससे उनका स्वास्थ्य सुधर जाय। वे एक शर्त पर सम्मत हुए—स्वामी तुरीयानन्द को उनके साथ अमेरिका जाना पड़ेगा। तुरीयानन्दजी से जब यह प्रस्ताव किया गया तो वे राजी नहीं हुए क्योंकि उन्हें तो तपस्या एवं ध्यान का जीवन ही अधिक प्रिय था। वे प्राचीन ऋषियों के अनुगामी थे। अन्त

में प्रेममय स्वामी विवेकानन्द ने अपने परम प्रिय गुरुभ्राता तुरीयानन्दजी को गले से लगा लिया और अश्रुपूर्ण नेत्रों से करुण निवेदन कर कहने लगे, "हरिभाई ! क्या तुम यह नहीं देख रहे हो कि श्रीरामकृष्णदेव के कार्य के लिए मैं अपने हृदय का एक-एक बूँद रक्त देकर मृतप्राय हो गया हूँ ! क्या तुम मुझे इस कार्य में थोड़ी भी सहायता न दोगे —केवल खड़े-खड़े देखते रहोगे ?" स्वामी विवेकानन्द के दिव्य स्पर्श से तथा उनके करुण वचन को सुनकर तुरीयानन्दजी में 'न' बोलने की सामर्थ्य नहीं रही, वे सम्मत हो गये।

अन्य एक समय विदेशयात्रा के कुछ पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने तुरीयानन्दजी से कहा था, "पाश्चात्य को मैंने क्षत्रिय-तेज दिखाया है, वक्तृता द्वारा स्तम्भित कर दिया है; तुम उन्हें ब्राह्मणोचित पवित्रता एवं ध्यानपरायणता दिखाओ।" इस पथ-संकेत द्वारा तुरीयानन्दजी को यह विदित हो गया कि जिस प्रकार मैं भारत में जीवनयापन कर रहा था, वैसा ही मुझे अमेरिका में भी करना होगा। २० जून १८९९ ई० को दोनों गुरुभाई, अमेरिका के लिए रवाना हुए।

अमेरिका पहुँचने पर स्वामी तुरीयानन्दजी को न्यूयार्क की वेदान्त-समिति, सैन फ्रान्सिस्को, लॉस एन्जेल्स तथा अन्य स्थानों पर कभी कभी व्याख्यान देना पड़ता था। श्रोताओं से वे सर्वप्रथम ध्यान करने को कहते और उसके बाद धार्मिक जीवन, व्यावहारिक जीवन में वेदान्त तथा अन्यान्य आध्यात्मिक विषयों पर कुछ समय भाषण देते।

साथ ही अवतारी-महापुरुषों की जीवन-लीला की अनेक घटनाओं के आधार पर दृष्टान्त द्वारा गहन तत्त्वों को समझाया करते थे। इसके बाद प्रश्नोत्तर द्वारा श्रोताओं का शंका-समाधान करते थे। वे स्वयं अनुभूतिसम्पन्न ब्रह्मज्ञ पुरुष थे। जो भी कहते, वह सीधे श्रोताओं के हृदय को स्पर्श कर लेता। उन्हें नया आलोक मिलता।

स्वामी तुरीयानन्दजी का असल कार्य था प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को गढ़ना। वे एक निपुण मूर्तिकार के समान मनुष्य के मन को भिन्न-भिन्न सुन्दर-सुन्दर रूप देकर दिव्य आकार में परिणत कर देते थे; चंचल मन शान्त एवं स्थिर हो जाता था। अमेरिका में उन्होंने वेदान्त प्रचार का जो कार्य किया, उसे संक्षेप में यदि व्यक्त किया जाय तो यही कहना होगा कि वे जीव को शिव बनाने में तत्पर थे, नर को नारायण बनाने में मग्न थे। यही उनके जीवन का ध्येय था। यह कार्य उन्होंने किस तरह पूर्ण किया यह उनके अमेरिका के जीवन की कुछ घटनाओं द्वारा हृदयंगम हो जायगा।

स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित होकर अमेरिकानिवासिनी कुमारी मिनि बूक ने उन्हें उत्तर-कैलिफोर्निया में वेदान्त-आश्रम स्थापित करने के लिए १६० एकड़ भूमि दान में दी। न्यूयार्क में बहुत अधिक कोलाहल देखकर स्वामी विवेकानन्द ने वह दान ग्रहण कर लिया तथा तुरीयानन्दजी को निकट बुलाकर कहा, "यह जगन्माता की इच्छा है कि तुम यह कार्यभार सँभालो। ... जाओ, वहाँ आश्रम का निर्माण करो, वेदान्त का झंडा फहराओ। .... आदर्श जीवन

बिताओ, शेष सब 'माँ' करेंगी।" गुरुसदृश गुरुभाई की इस आज्ञा को तुरीयानन्दजी ने शिरोधार्य किया तथा वेदान्त के बारह विद्यार्थियों को लेकर वे सॉन एन्टोनिओ की ओर चल दिये, जहाँ उन्हें आश्रम बनाने का आदेश मिला था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि वह स्थान तो बहुत ही निर्जन है, रेल्वे स्टेशन से लगभग पचास मील दूर है, चार मील दूर से पीने का पानी लाना पड़ता है तथा निवास-स्थान के लिए लकड़ी का एक छोटा-सा कमरा है। यह देख वे कुछ खिन्न से हुए। सोचने लगे, सुख में पले हुए विद्यार्थियों को ऐसे जलहीन, आश्रयहीन स्थान में क्यों ले आया। 'माँ' से वे कहने लगे, "माँ, तूने यह क्या किया ? तू कहाँ ले आयी ? ये लोग तो मर जायेंगे ! आश्रय नहीं, जल नहीं—ये लोग क्या करेंगे ?" स्वामीजी के भाव को पूर्णतया न समझ सकने के कारण एक छात्रा कहने लगी, "स्वामीजी, आप निराश हो गये ? आप जगन्माता पर विश्वास खो रहे हैं !" जिस संन्यासी ने अपना समस्त जीवन कठोर तपस्या में बिताया था, उनके हृदय की अपार दया एवं प्रेम को इतने शीघ्र वह अमेरिकन छात्रा कैसे समझ सकती ? किन्तु तुरीयानन्दजी ने उसके कथन का अनुमोदन कर कहा, "हाँ, माँ हमारी रक्षा करेंगी।.... अहा, तुममें कितना विश्वास है ! आज से तुम्हारा नाम हुआ श्रद्धा।"

माँ पर पूर्ण भरोसा रख आश्रम का कार्य आरम्भ हुआ। तुरीयानन्दजी ने आश्रम का नाम रखा—शान्ति आश्रम।

तम्बू गाड़े गये । कुआँ खोदा गया । बाद में कुछ पक्के मकान भी बनाये गये । ध्यान के लिए अलग स्थान निर्दिष्ट हुआ । प्रातः पाँच बजे तक सभी उठ जाते थे । चाहे गर्मी हो या जाड़ा, तड़के ही सब लोग स्नान कर लेते थे । फिर ध्यान के लिए अपने-अपने निर्दिष्ट स्थान पर आकर बैठ जाते थे । स्वामी तुरीयानन्दजी कभी मंत्र-पाठ से तो कभी 'हरि ॐ' की पवित्र गम्भीर ध्वनि से पूजागृह में आध्यात्मिक वातावरण निर्माण कर देते, जिससे साधक-साधिकाओं का मन एकाग्र हो भगवद्-ध्यान एवं तन्मयता के उपयुक्त हो जाता था । एक घंटे तक ध्यान करने के पश्चात् ऋषितुल्य स्वामी तुरीयानन्दजी की गम्भीर मंत्रध्वनि पुनः प्रारम्भ होती थी । विद्यार्थियों को प्रतीत होता था मानो हम किसी अन्य राज्य से, तुरीय अवस्था से इस धराधाम में नीचे आ रहे हैं । इसके बाद प्रातः आठ बजे सब मिलकर जलपान करते, फिर प्रत्येक विद्यार्थी अपना निर्दिष्ट कार्य करता था । दस बजे सब छात्र स्वामी तुरीयानन्दजी से भगवद्गीता की हृदयग्राही, अनुभूतिसम्पन्न व्याख्या सुनने के लिए एकत्रित हो जाते । एक घंटे तक क्लास चलती । उसके बाद पुनः एक घंटे तक सब लोग ध्यान करते । दोपहर को एक बजे भोजन, फिर विश्राम, अध्ययन आदि । चार बजे चाय, शाम को सात बजे भोजन तथा आठ से दस बजे रात तक पुनः ध्यान । दस बजे शयन के लिए सब अपने-अपने कमरे में चले जाते थे । यह थी शान्ति आश्रम की दिनचर्या ।

इस दिनचर्या के बीच स्वामी तुरीयानन्द प्रत्येक विद्यार्थी

की ओर व्यक्तिगत ध्यान रखते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार से, हरएक विद्यार्थी की मानसिक अवस्था पर दृष्टि रखते हुए, उसे आदर्श-पथ पर अग्रसर होने के लिए उपदेश देते थे। मातृभाव में तन्मय तुरीयानन्दजी सभी को 'माँ' के चिन्तन में मग्न रखते थे। यदि कभी किसी को अन्य विषय पर वार्तालाप करते देखते, तो वे दूर से ही कभी 'हरि ॐ', कभी 'माँ माँ' का उच्चारण करते हुए समीप आ जाते। इसे सुनते ही सभी का मन अन्तर्मुख हो जाता था। तुरीयानन्दजी सदैव कहा करते थे, "माँ का चिन्तन करो, दुनिया को भूल जाओ। यहाँ सिर्फ माँ का ही चिन्तन चले। शहर वगैरह सब भूल जाओ।" 'सदा-सर्वदा माँ का चिन्तन' — शान्ति आश्रम का यह ध्येय बन गया था। उपनिषद् में ऋषि भी हमें यही उपदेश देते हैं — "तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" — एक आत्मा को ही जानो, अन्य सब बातों को छोड़ दो। यही अमृत (मोक्षप्राप्ति) का सेतु है। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

तुरीयानन्दजी का धर्म Sunday Religion (रविवासरीय धर्म) नहीं था। अहर्निश माँ का स्मरण-मनन चलता था। वे जो उपदेश देते, स्वयं उसके मूर्तिमान् प्रतीक थे। विद्यार्थियों को वे 'माँ की सन्तान' कहते थे।

किसी समय एक विद्यार्थी ने हर्षोत्फुल्ल मन से कहा, "स्वामीजी, यह कितनी आश्चर्यजनक घटना है कि भिन्न-भिन्न संस्कार एवं भिन्न-भिन्न मन वाले हम सब एकत्र रूप से यहाँ शान्तिपूर्ण जीवन बिता रहे हैं।" यह सुन

तुरीयानन्दजी कहने लगे, "क्योंकि मैं प्यार द्वारा शासन करता हूँ। तुम सब प्रेम-सूत्र में मुझसे बँधे हो। देखते नहीं, प्रत्येक पर मेरा कितना विश्वास है, हरएक को स्वाधीनता है। मैं ऐसा करता हूँ क्योंकि मुझे यह विदित है कि तुम सब मुझे प्यार करते हो। किसी के भी मन में कोई झिझक नहीं है, इसलिए सब आनन्दपूर्वक चल रहा है।। किन्तु स्मरण रखो, यह सब माँ का ही कार्य है। मेरा कुछ भी नहीं है। माँ ने ही हमें आपस में प्यार दिया है जिससे उनका कार्य आगे बढ़े। जब तक हम माँ के प्रति सच्चे हैं, तब तक यह भय नहीं कि कुछ अस्त-व्यस्त हो जाय। किन्तु जिस क्षण हम उन्हें भूल जायेंगे, खतरा है। इसीलिए मैं सर्वदा तुम लोगों को माँ का चिन्तन करने को कहता हूँ।"

एक छात्रा रसोई पका रही थी। यह देखने के लिए कि ठीक-ठीक नमक डाला गया है या नहीं, वह भोजन का कुछ अंश चखने लगी। यह देखते ही तुरीयानन्दजी ने कहा, "हमारे सभी कार्य प्रभु की सेवा के लिए हैं। भोजन भी प्रभु के लिए ही पकाया जाना है। उन्हें निवेदन करने के बाद ही हम उसे ग्रहण करते हैं। अपने जीवन का प्रत्येक कार्य हम प्रभु को समर्पित कर रहे हैं, यह भाव ही हमारी आध्यात्मिक उन्नति करेगा।" छोटे छोटे कार्यों में भी तुरीयानन्दजी सभी का ध्यान आदर्श की ही ओर रखते थे। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यही उपदेश अर्जुन को दिया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

विद्यार्थी उन्हें कभी फूल देते थे। वे फूलों को पूजागृह में ले जाकर श्रीरामकृष्णदेव की फोटो पर सजा देते थे। उनके एक अमेरिकन छात्र ब्रह्मचारी गुरुदास (बाद में स्वामी अतुलानन्द) ने पूछा, "स्वामीजी, आपको फूल अच्छे नहीं लगते ?" तुरीयानन्दजी ने उत्तर दिया, "अवश्य अच्छे लगते हैं। नहीं तो मैं उन्हें श्रीरामकृष्णदेव के चरणों में क्यों अर्पित करता ? भगवान् को अर्पित किये बिना हम लोग फूल नहीं सूँघते।" इन छोटी-छोटी घटनाओं से हमें विदित होता है कि उनका सम्पूर्ण जीवन किस प्रकार भगवत्-केन्द्रित था। वे सदैव यही चाहते थे कि उनके छात्रों का भी चौबीसों घंटे का जीवन भगवत्-केन्द्रित हो जाय।

तुरीयानन्दजी की तितिक्षा भी महान् थी। एक दिन जब वे ध्यान मग्न थे, एक कीड़े ने उन्हें काट लिया। आँखें बिना खोले ही उन्होंने उसे फेंक दिया। किसीसे कोई चर्चा भी नहीं की। जहर फैलने के कारण दूसरे दिन सुबह तक उनका पूरा हाथ सूज गया। सभी विद्यार्थी चिन्तित हो गये कि अब क्या किया जाय। डाक्टर तो वहाँ से पचास मील दूर रहते थे। सभी चिन्ताग्रस्त हो गये कि स्वामीजी को किस प्रकार बचाया जाय। किन्तु दैवी इच्छा कुछ और थी। इतने में देखते क्या हैं कि उस निर्जन शान्ति आश्रम में एक अतिथि आये। अपना परिचय देते हुए उन्होंने बताया कि वे एक डाक्टर हैं। वे न्यूयार्क से आ रहे हैं (जो कि शान्ति आश्रम से तीन हजार मील से भी अधिक दूर था), तथा आश्रम-जीवन बिताने के लिए रेल्वे स्टेशन से पचास मील

वे पैदल ही आये हैं। उन्होंने इलाज किया। शीघ्र ही तुरीया-नन्दजी स्वस्थ हो गये। तुरीयानन्दजी के सत्संग में रहकर डाक्टर के जीवन में बहुत परिवर्तन हो गया। वे उनके एक घनिष्ठ शिष्य हो गये।

एक दिन सब लोग भोजन समाप्त करके बैठे थे। तुरीया-नन्दजी का मन बहुत ही उच्च अवस्था में था। वे जीवन के गहनतम सत्यों को निर्झरित वाणी द्वारा समझा रहे थे। भोजन की मेज पर से किसी की भी उठने की इच्छा नहीं थी। श्रीरामकृष्णदेव के कथा-प्रसंग में वे कहने लगे कि उनका प्रथम दर्शन करते ही मुझे यह अनुभव हुआ, वे साक्षात् शुकदेव हैं। इसी प्रसंग में अत्यन्त धीर, गम्भीर भाव में वे पुनः कहने लगे कि श्रीरामकृष्णदेव ने एक समय भविष्यवाणी की थी — "मेरे और भी अनेक भक्त हैं जो अन्य भाषा बोलते हैं, अन्य देश में रहते हैं तथा जिनके रीति-रिवाज भी भिन्न हैं। वे अति दूर, पश्चिम में रहते हैं। वे भी मेरी पूजा करेंगे, वे भी माँ की सन्तान है।" स्वामी तुरीयानन्दजी कहने लगे, "माँ ने मुझे दिखा दिया है कि तुम्हीं लोग वे भक्त हो।"

इस अकल्पनीय शुभ-सन्देश को सुनते ही सब स्तब्ध रह गये। किसी को विश्वास न हो पा रहा था। आखिर एक छात्रा ने डरते-डरते कहा, "स्वामीजी, मैं यह विश्वास नहीं कर पा रही हूँ कि मैं इस आशीर्वाद के योग्य हूँ।" यह सुनते ही तुरीयानन्दजी द्रवित हो गये। कुछ क्षण वे मौन रहे। फिर अत्यन्त गम्भीरता से बोले, "योग्य कौन है?

भगवान् क्या हमारी योग्यता को नापते हैं ? 'The first shall be the last and the last shall be the first.'* (जो प्रथम हैं वे पिछले होंगे, और जो पिछले हैं, वे प्रथम होंगे।) मैं कहता हूँ, तुम भले हो या बुरे, तुम सब माँ की सन्तान हो !" कुछ दिनों पश्चात् इस छात्रा का शान्ति आश्रम में निधन हो गया— अन्त समय तक 'रामकृष्ण रामकृष्ण' का नाम-स्मरण करते-करते वह इस लोक से विदा हुई। इस घटना से हमें दिखाई देता है कि स्वामी तुरीयानन्दजी की वाणी अक्षरशः सत्य थी। जीवन में, मरण में — सदा-सर्वदा भगवान् की अनुभूति होना ही वेदान्त का चरम सत्य है। तुरीयानन्दजी स्वयं ब्रह्मस्वरूप थे, पारसमणि थे। उनके दिव्य संग से, दिव्य स्पर्श से कितने मुमुक्षुओं का जीवन सर्वाङ्गसम्पूर्ण हो गया था, यह कहना अति कठिन है। उपर्युक्त घटना तो केवल एक संकेतमात्र है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं— 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।' — भगवान् का भक्त चाहे भला हो या बुरा, अति शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है तथा परम शान्ति को प्राप्त होता है। जीवन में मनुष्य को चाहिए क्या ? — अखण्ड आनन्द एवं चिर शान्ति। प्रभु के चरणों में जिसने पूर्ण शरण ली है, उसे सभी पापों से भगवान् मुक्त कर देते हैं — 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

तुरीयानन्दजी बारम्बार अपने शिष्यों को संसार की

* सेंट मैथ्यूज, १९।३०

असारता दिखाकर भगवान् का स्मरण-मनन-निदिध्या-सन करने को उत्साहित करते थे। उनके मुख से प्रायः ही सुना जाता था — 'अनित्यं असुखं लोकं इमं प्राप्य भजस्व माम्'। वे स्वयं सारा जीवन यही करते रहे और सभी को भगवान् श्रीकृष्ण की यह वाणी सुनाते रहे।

जब भी कोई विद्यार्थी उनके पास आकर अपने जीवन की योजना बतलाता, तो वे बारम्बार यही कहते, "तुम योजना क्यों बनाते हो ? माँ को योजना बनाने दो। उनकी योजना ही सत्य घटती है। यदि उनकी इच्छा न हो तो मनुष्य की सभी योजनाएँ निष्फल हो जाती हैं। उनके लिए तो भविष्य खुले पृष्ठ के सदृश है। वर्तमान में जीओ। ··· उन पर पूर्ण विश्वास रखो, उनकी जो इच्छा होगी वही वे करेंगी। ··· किन्तु उन पर शरणागति का अर्थ आलस्य नहीं है।···· निरन्तर अपने को कर्म, स्वाध्याय, ध्यान आदि में रत रखो; और गप्प में समय मत बिताओ। सदैव प्रभु की ही सेवा करो तथा उन्हीं का स्मरण-मनन और चर्चा करो।"

भगवान् पर पूर्ण निर्भरता का उपदेश देते हुए तथा उपर्युक्त कथन को समझाते हुए उन्होंने एक बार ब्रह्मचारी गुरुदास को एक कहानी बतलायी थी।एक शिकारी अत्यन्त क्लान्त होकर एक वृक्ष के नीचे लेट रहा। प्यास के मारे वह छटपटा रहा था। पास ही में उसने अपने अनुगामी पालतू बाज को बैठा दिया। इतने में शिकारी ने देखा कि वृक्ष की एक डाल पर से एक-एक बूँद पानी नीचे टपक रहा है। झट उसने अपना प्याला नीचे रख दिया और लेट गया।

प्याला भर जाने पर ज्योंही शिकारी ने अपना हाथ बढ़ाया बाज ने उसे लुढ़का दिया। शिकारी बहुत क्रुद्ध हुआ और पुनः प्याला रख दिया। इस बार भी बाज ने उसे लुढ़का दिया। अब तो उसे इतना गुस्सा आया कि उसने बाज को जान से ही मार डाला। तीसरी बार उसने फिर प्याला रखा। पानी कहाँ से टपक रहा है यह देखने के लिए उसकी निगाह जो पेड़ पर गयी तो देखता क्या है कि वह पानी नहीं, विष है जो एक बड़े सर्प के मुँह से नीचे की ओर टपक रहा है। अब तो उसे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ कि जिस बाज ने उसकी जीवन भर सहायता की तथा अन्तिम क्षण तक उसकी जान बचायी, उसे ही उसने अज्ञान से मार डाला।

इस कहानी को बतलाकर तुरीयानन्दजी ने गुरुदास से कहा, "देखो, जो तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ मित्र एवं शुभाकांक्षी हो उसे फेंक न देना। हमेशा यह ध्यान रहे।"

प्रत्येक विद्यार्थी को वे पवित्र, बलिष्ठ एवं मेधावी बनने के लिए कहा करते थे। इसके बिना भगवत्साक्षात्कार नहीं हो सकता। पवित्र जीवन बिना कुछ नहीं होने का —यही उनका सतत उपदेश था। माया को वही पार करता है जिसने प्रभु में शरण ली है— 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'। पवित्र जीवन, सतत प्रयत्न एवं पूर्ण शरणागति — वेदान्त के चरम सत्यों का अनुभव करने के लिए स्वामी तुरीयानन्दजी के यही तीन मूल-मंत्र थे।

दो वर्ष नौ माह अमेरिका में वेदान्त-प्रचार करने के उपरान्त स्वामी तुरीयानन्दजी भारत वापस लौट आये।

किन्तु उनके वापस आने पर भी अमेरिका में उनके द्वारा वेदान्त-प्रचार का जो बीजारोपण हुआ था, वह पुष्पित एवं फलित होने लगा। उनके सम्पर्क में आये हुए छात्र शान्ति के पथ पर अग्रसर होने लगे। जीवन में, मरण में वेदान्त उनके साथ रहा। इस प्रसंग में एक आश्चर्यजनक घटना घटी थी। एक अमेरिकन छात्रा स्वामी तुरीयानन्दजी के घनिष्ठ सम्पर्क में आयी थी। तुरीयानन्दजी ने उसका नाम रखा था। शंकरी तुरीयानन्दजी के उपदेशों के अनुसार वह जीवन व्यतीत कर रही थी। कई वर्ष के बाद, तुरीयानन्दजी जब भारत में थे, वह किसी असाध्य रोग से शय्याग्रस्त हो गयी। दिनोंदिन कष्ट बढ़ता गया, परन्तु उसकी तितिक्षा अद्भुत थी। अन्तिम समय निकट आया। उसने अपनी घनिष्ठ सहेली मीरा को निकट बुलाया और कहने लगी, "मीरा, प्रभु मुझे बुला रहे हैं। क्या तुम मेरे साथ उनका नाम-जप करोगी ?" मीरा शंकरी के निकट सारा दिन और रात रही। बारी-बारी से मीरा और शंकरी नाम-जप करती रहीं। दूसरे दिन प्रातःकाल शंकरी बहुत कमजोर हो गयी। मानो मीरा को देखने के लिए उसने धीरे से करवट बदली और अत्यन्त क्षीण स्वर में उसने प्रभु का नाम लिया—'रामकृष्ण', और सदा के लिए शान्त हो गयी। शरीर पड़ा रहा, जीवात्मा मुक्त हो गया।

यह है वेदान्तकेसरी स्वामी तुरीयानन्दजीके वेदान्त-प्रचार की अमिट छाप।

गोपाल कृष्ण गोखले

डा० त्रेतानाथ तिवारी

साधनों की शुद्धता पर विश्वास एवं राजनीति को आध्यात्मिकता से परिपूर्ण करने का उत्कट प्रयत्न, गोखले के दो सर्वोत्तम गुण थे। गाँधी जी ने उनके इस आध्यात्मिक एवं दयामय स्वरूप को संसार के सम्मुख उपस्थित किया है। वे कहते थे, "गोखले के राजनैतिक जीवन में मुझे अपना आदर्श प्राप्त हुआ है एवं उन्हें मैंने अपने हृदय के अंतरतम प्रदेश में अपने राजनैतिक गुरु के आसन पर आसीन किया है। निर्भयता, सत्यता, साहस, नम्रता, न्यायप्रियता, ऋजुता, दृढ़ता आदि सद्गुणों को हम प्राप्त करें एवं इन्हीं के मार्ग से हम देश सेवा करें यही उनके 'राजनीतिको आध्यात्मिकता से परिपूर्ण करें' इस महावाक्य का अर्थ है।" इस महान् देशभक्त के वीरतापूर्ण उदात्त जीवन का यही संदेश है।

शासन एवं जनता दोनों के हित का मधुर सामंजस्य गोखलेजी ने अपने राजनैतिक जीवन में स्थापित किया। आपकी वाणी हित, मित, मधुर बोलने वाली होती थी। उसमें उपयोगिता एवं सुन्दरता का मधुर समावेश होता था। भाषा ओजस्विनी होती थी एवं आंग्ल भाषा पर आपका विलक्षण प्रभुत्व था। भाषण-काल में आपकी दृढ़, सौम्य

एवं स्नेहमयीमूर्ति प्रतिपक्षियों को भी प्रभावित कर मंत्र-मुग्ध बनाये रखती थी।

गाँधीजी दक्षिण अफ्रिका से स्वदेश आकर अनेकों प्रसिद्ध पुरुषों से मिले। वे लिखते हैं, "गोखले से मिलने पर मुझमें विलक्षण ही भाव जागृत हुआ। जान पड़ा मानों मैं अपने किसी पुरातन मित्र से अथवा यों कहिये कि अपनी माता से ही चिर-वियोग के पश्चात् मिल रहा हूँ। उनके स्निग्ध स्वरूप के दर्शन करते ही मेरी आत्मा में शांति छा गई। वे मेरे चलने, बोलने, खाने, पहनने आदि सभी बातों की चिंता रखते थे। उन्हें मेरी माता से भी अधिक मेरी सब बातों की चिंता थी। मेरे और उनके हृदय के बीच कोई परदा न था। प्रथम दर्शन से ही मैं खो गया। यह श्रद्धा किसी संकट कालमें भी न्यून न हुई। एक राजनैतिक कार्यकर्ता में जिन जिन सद्गुणों की मैंने भावना की थी, वे सभी गुण मैंने उनमें पाये। वे रत्नके समान निर्मल, शिशु की नाईं सरल, सिंह जैसे साहसी और अवगुणी के प्रति अतिशय उदार-चेता थे। मैंने उनमें कभी कोई दोष न पाये। उनके प्रत्येक शब्द में स्नेहपूर्ण सहानुभूति, सत्यता एवं देशभक्ति के दर्शन होते थे।" गोखले महान् हैं या नहीं इसकी परवाह गाँधीजी को न थी; वे अत्यंत भले हैं इसी पर गांधी जी मुग्ध थे। वे उन्हें गीता के "दैवी संपत्" से परिपूर्ण मानते थे।

कोंकण ने हमारे देश को अनेकों महापुरुष प्रदान किये हैं। गोखले उन्हीं में से एक हैं। गोखले के कुटुम्बियों की एक शाखा का उपनाम 'रस्ते' था जिसका अर्थ है सत्य एवं

न्याय्य मार्ग पर चलने वाले। आपके पिता कृष्णराव; श्रीधररावजी के पुत्र थे। कृष्णराव के गोपाल और गोविन्द दोनों पुत्रों का आपस में अत्यधिक स्नेह था। गोखले-कुटुम्ब चरित्रबल, दृढ़मनोबल एवं आत्मसम्मान के लिये प्रसिद्ध था। सात्साहस के कारण आपके पिता श्री कृष्णराव को बाल्यकाल में "वाघोबा" का उपनाम प्राप्त हुआ था। आप की माता अत्यंत धार्मिक एवं स्निग्धहृदय थीं। उनकी पतिभक्ति अद्वितीय थी। पति के देहावसान के पश्चात् उन्होंने पति का एक वस्त्र स्मारक के रूप में सुरक्षित रख छोड़ा था और उसे वे कभी अपने से अलग नहीं करती थीं। इसी भांति श्रीगोखले ने भी अपने गुरुदेव श्रीरानाडे का दिया हुआ एक जरीदार दुपट्टा भक्तिपूर्वक सुरक्षित रखा था। उसे वे कभी कभी ही उपयोग में लाते थे। दक्षिण अफ्रिका में एक भोज में जाते समय उसे उन्होंने गले में डाला तो था, किंतु उसमें सिलवट पड़ गई थी। गाँधीजी को आपने उसे बड़ी कठिनाई से इस्तरी करने दिया। बोले कि मेरे लिये यह कितना बहुमूल्य है इसका तुम्हें परिचय नहीं।

विद्यार्थी जीवन में श्रीगोपालराव की ख्याति विशेष बुद्धिमत्ता के लिये नहीं वरन् ईमानदारी और सचाई के लिये थी। एक बार शिक्षक ने एक गणित का प्रश्न दिया जो कक्षा भरमें केवल आपही से बन सका। इसके पुरस्कार स्वरूप शिक्षक ने आपको कक्षामें प्रथम स्थान में बैठने को कहा किंतु आप रो पड़े और बताया कि यह प्रश्न मैंने घरमें एक विद्यार्थी की सहायता से बनाया था। एक बार मैदान

में एक खेल में दोनों भाई विपक्ष दलों में बँटकर खेल रहे थे। आपके भाई ने कहा कि तुम जरा गड़बड़ी कर दो ताकि मेरा पक्ष जीत जाये। आपने स्पष्ट कह दिया कि मैं खेल से भले ही अलग हो जाऊँगा किन्तु ऐसा न करूँगा।

तेरह वर्ष की आयु में आपके पिता जी का देहांत हो गया। तब आपके चाचा आपके परिवार की देखरेख करने लगे। आप दोनों भाई उनके प्रति सदैव अतीव आदर और श्रद्धा-बुद्धि रखते रहे। चाचाने अठारह वर्षीय ज्येष्ठ भ्राता को १५) मासिक की नौकरी लगा दी। परिवार में चार बहिनें एवं माता भी थीं। बड़े भाई की अपनी पढ़ाई बन्द हो गई और वे छोटे की पढ़ाई में सहायता देने लगे। निर्वाह के लिये वे ८) मासिक भेजते थे। इस छोटी रकम में कुछ वृद्धि करने की दृष्टि से आपने सप्ताह में एक जून उपवास शुरू किया और कभी कभी सड़क के प्रकाश में अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया किन्तु इन बातों के सम्बन्ध में आप अपने भाई से कभी चर्चा न करते थे। कुछ काल आपने स्वयंपाक द्वारा भी पैसे बचाये। पन्द्रह वर्ष की आयु में आप इस कठिन परिस्थिति के बीच मेट्रिकुलेशन पास हुए। गोपालराव और माता तो कहती थीं कि अब वे कोई नौकरी करलें किन्तु बड़े भाई ने दृढ़ता पूर्वक कहा कि इन्हें कालेज की शिक्षा अवश्यमेव दी जाय। इस संकट में आपकी भाभी ने सामने आकर हिम्मत बँधाई।' वे बोलीं, 'मेरे सब आभूषण बेचकर गोपालराव की शिक्षा जारी रखी जाये।' इस प्रकार आपने बी. ए. पास किया। आप उच्च द्वितीय

श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। आपकी स्मरणशक्ति अपनी माता के समान ही अद्भुत थी। इसके द्वारा आप सबको चकित करने लगे। आप समूची पुस्तक कंठस्थ कर लेते और सह-पाठियों को शर्त के साथ सुनाते थे। प्रत्येक त्रुटि का एक आना दंड होता था किन्तु शायद कभी किसीने आपसे दंड में विशेष पैसा पाया हो। सत्यता आपको अत्यंत प्रिय थी किन्तु समय पड़ने पर आप मानवता को उच्चतर स्थान प्रदान करते थे। एक बार एक बूढ़े पोस्टमैन से कुछ गलती हो गई। तब आपने उसे बचाने के लिए मिथ्याकी शरण ली अन्यथा वह दंड-भागी हुआ होता।

आगे आपने कानून की कक्षा में प्रवेश लिया और साथही साथ तिलकके न्यू इंग्लिश स्कूल में शिक्षक हो गये, क्योंकि आपको भाई के अर्थिक भारको कम करने की विशेष चिंता थी। इसी विचार से आपने एक कक्षा भी खोली जिससे आर्थिक आय कुछ और बढ़ी। सम्पूर्ण आयका अधिकांश आप भाई के पास भेज कर प्रसन्नता अनुभव करते थे। कानून को एक परीक्षा तो आपने पास की किन्तु विभिन्न कठिनाइयों के कारण दूसरी न दे सके। शिक्षक रहते हुए आप तिलक एवं आगरकर आदि के साथ जोवन के ध्येय, एवं देश की दशा आदि विषयों पर चर्चा करते रहते थे तथा 'मराठा' में लेख भी लिखते थे। आपके विचारों का परिचय पाकर तिलक एवं आगरकर ने आपको डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी का आजीवन सदस्य बना लिया। इस प्रकार आप का धनार्जन मार्ग अवरुद्ध हो गया। तथापि आप सदा

इस विषय में चिंतित रहते थे कि भाई एवं भाभी के ऋण को भली भाँति कैसे चुकाया जाये। आगरकर ने इनके भाई से ही आज्ञा ले ली कि ये वकील न बनें और कम वेतन पर शिक्षक-वृत्ति द्वारा देश सेवा करें। भाई से आज्ञा प्राप्त होने पर आपका मानसिक भार कुछ कम हुआ तथापि भाई के परिवार की आपने उत्तर काल में सदा ही उपयुक्त देख-रेख की।

आप कक्षा में अंग्रेजी एवं गणित की शिक्षा देते थे। अंग्रेजी में आप विशेष प्रवीण हो गये क्योंकि आपकी स्मृति शक्ति विलक्षण थी और उच्चारण भी निर्दोष था। कक्षा में जाने के पूर्व आप उस दिन का पाठ पूर्णतया अध्ययन कर लेते एवं टिप्पणी लिख लेते थे। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य के लिये आप पूर्ण परिश्रम से समुचित तैयारी पहले से कर लेते थे। गाँधी जी इसका कई बार उल्लेख करते थे। "नेलसन की जीवनी" का पाठ पढ़ाने की तैयारी में आपने जहाजी शब्दों से समुचित परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से कई बार बम्बई-यात्रा की और वहाँ अनेक साधारण जहाजों एवं एक युद्ध पोत का सूक्ष्म नीरीक्षण कर सब जहाजी नामोंको पूरी तरह समझ लिया जिससे आप अब एक पेशेवर जहाजी की नाईं जहाजों के विषय में बोलने योग्य हो गये। आपकी लगन और उद्योग शीलता का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

अध्ययन की हुई अधिकांश पुस्तकें आप कंठस्थ कर लेते थे। इस प्रकार आंग्ल भाषा के शब्द-समूह एवं सूक्तियों का आपके पास प्रचुर भांडार हो गया। आप पार्वती टेकड़ी

पर कभी कभी अकेले जाकर अंग्रेजी साहित्य के महान् लेखकों के उद्धरण उच्चस्वर से पाठ करने लगते थे। इसमें आपको आनन्द आता था। उस काल में किसी को इसकी कल्पना भी न थी कि आप स्वदेश में एवं विदेश में जन-सेवक के रूपमें अनेक सुललित व्याख्यान देंगे।

सबसे पहली बार आपने कोल्हापुर में "अंग्रेजी शासन में भारतवर्ष" विषय पर व्याख्यान दिया। श्री लीवार्नर, ब्रिटिश रेसिडेंट, सभापति थे। उन्होंने मुक्तकंठ से गोखले की व्याख्यान-शैली एवं भाषा पर उनके प्रभुत्त्व की प्रशंसा की।

आपने अंकगणित पर एक पुस्तक लिखी थी जिसकी श्री लोकमान्य तिलक ने प्रशंसा की थी। यह पुस्तक अनेकों वर्ष भारतवर्ष भर में पाठ्य-पुस्तक रही एवं अनेकों भाषाओं में भाषांतरित भी हुई। आपको एवं आपके निधन के पश्चात् आपकी पुत्री को इससे उत्तम आर्थिक आय भी होती रही।

आप इतिहास भी पढ़ाते थे किन्तु भारतीय इतिहास सच्चा न होने से आपको उसमें विशेष रुचि न रही। यूरोपीय इतिहास में, इङ्गलैण्ड एवं विशेषकर आयलैंड के स्वातंत्र्य-युद्ध के इतिहास में, आपको विशेष रुचि थी, क्योंकि वह भारत के लिये शिक्षाप्रद था। इसी दृष्टि से आप इङ्गलैण्ड एवं आयलैंण्ड के कुछ समाचार पत्र भी नियमित रूपसे मँगाकर पढ़ते थे।

अर्थशास्त्र पर आपके व्याख्यान विशेष योग्यता-पूर्ण होते थे एवं उनमें भी पराधीन भारत के अर्थशास्त्र के अध्ययन से आपको विशेष प्रेम था।

डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी से तिलक के पृथक् हो जाने पर आपही पर उसका भार आया। सेवा और त्याग के पूर्व निश्चयानुसार व्यक्तिगत रूप से आर्थिक उपार्जन की वृत्ति से आप सदा दूर ही रहे। फर्ग्युसन कालेज की भवन-निर्मिति में आपका ही उद्योग प्रधान था । सरकार से आपने उसके लिये आर्थिक सहायता भी प्राप्त की थी । आप भारत से 'वैलबी कमीशन' के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साक्षी थे । आगे आपने इण्डियन नैशनल कांग्रेस में भी बहुत कार्य किया एवं बम्बई विधानसभा के सदस्य हुए। किन्तु प्रोफेसरी के कार्यमें जब तक रहे, उसमें कभी आपने कोई त्रुटि नहीं आने दी।

बंग-भंग के अवसर पर चर्चा करने आप जब विलायत गये थे तब दो बार लार्ड मोर्लें से भेंट होनेपर आपने कहा कि मुझे राजनैतिक सुधारों के सम्बन्ध में भी चर्चा करनी थी जिसके लिये समय न रहा । यदि एक और भेंट का समय आप दे सकें तो ठीक हो। इसके उत्तर में लार्ड मोर्लें ने कहा, "श्रीमान् गोखले, प्रश्न यह नहीं है कि मैं आपको कितनी बार भेंट का समय दूँ, वरन् यह है कि आप कितनी बार भेंट स्वीकार करते हैं। यदि आप दस भेंट का अवसर देने में समर्थ हैं तो मैं उन दसों का स्वागत करूँगा।" बाद में पूरी दस भेंटें हुईं भी। इससे सूचित होता है कि आपकी योग्यता एवं व्यक्तित्व का कितना समादर इङ्गलैण्ड में शासकीय क्षेत्रों में भी था।

(क्रमशः)

अनमोल रत्न

श्री संतोष कुमार झा

"वेद 'धम,' 'अर्थ' और 'काम' तीनों की प्रशंसा करते हैं। किन्तु इन तीनों में किसकी प्राप्ति सर्वश्रेष्ठ है" धर्मराज युधिष्ठिर ने धर्मज्ञ पितामह भीष्म से पूछा।

तत्त्वज्ञानी भीष्म ने युधिष्ठिर की जिज्ञासा शांत करने के लिए एक कथा कही —

निर्धनता के दारुण दुख से दुखित एक निरीह ब्राह्मण रहा करता था। दारिद्र्य की पीड़ा से छूटने के लिए उसने देवताओं की उपासना प्रारंभ की। उसने सोचा, यदि देवता प्रसन्न होकर उसे धन दे दें तो उसके दुखों का नाश होजाय। धन की प्राप्ति ही उसकी उपासना का उद्देश्य था। किन्तु उसकी उपासना सफल न हुई। साधना सिद्ध न हुई। देवता प्रसन्न न हो सके। उसे देवताओं से धन न मिल सका।

दुखित ब्राह्मण चिंतामग्न था कि अब किस देवता की उपासना करे जिससे उसे वांछित धन प्राप्त हो सके। तभी उसने देखा कि एक तेजस्वी पुरुष उसके समीप ही खड़ा है। उसे देखकर ब्राह्मण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सोचा, यदि मैं किसी प्रकार इस दिव्य पुरुष की कृपा प्राप्त कर सकूँ तो मुझे अवश्य ही धन मिल सकेगा।

यह दिव्य पुरुष थे देव-अनुचर मेघ कुण्डधार। ब्राह्मण ने भक्ति पूर्वक उन्हें प्रणाम किया। ब्राह्मण की उपासना से

कुण्डधार प्रसन्न हो गए। उपासना समाप्त होते होते संध्या बीत चली और रात्रि का आगमन हो गया। उपासना क्लांत ब्राह्मण वहीं गहरी नींद में सो गया।

उसने स्वप्न में देखा कि यक्षराज मणिभद्र वहाँ विराज रहे हैं तथा देवताओं के सम्मुख अनेक प्रकार के याचकों को उपस्थित कर रहे हैं। ब्राह्मण ने देखा, देवगण उन सभी याचकों को उनके अपने अपने शुभ कर्मों के अनुसार राज्य-धन-संपत्ति आदि दे रहे हैं। किंतु साथ ही विस्फारित नेत्रों से उसने यह भी देखा कि जिन याचकों के शुभ कर्म समाप्त हो गए हैं उनसे देवगण वे सभी वस्तुएँ छीनते भी जा रहे हैं।

तभी उसने देखा, उसके आराध्य कुण्डधार ने देवताओं के सम्मुख भूमि पर मस्तक टेक दिया है। उसे देवताओं को इस प्रकार प्रणाम करते देख यक्षराज मणिभद्र ने उससे पूछा, "कुण्डधार, तुम क्या चाहते हो?"

कुण्डधार ने विनम्र हो कहा, "महाराज! यह ब्राह्मण मेरा भक्त है। यदि देवतागण मुझपर प्रसन्न हैं, तो बस मैं यही चाहता हूँ कि इस पर ऐसा अनुग्रह करें कि इसे भविष्य में सुख मिल सके।"

देवताओं की अनुमति से मणिभद्र ने कुण्डधार से कहा, "कुण्डधार, उठो। सुखी रहो। तुम्हारा यह भक्त जितना धन चाहता है, उतना मैं उसे दे रहा हूँ।"

किन्तु कुण्डधार ने सोचा, मनुष्य का जीवन तो चञ्चल और अस्थिर है। यदि मेरे भक्त ब्राह्मण को प्रचुर धन या

यह रत्नगर्भा पृथ्वी भी मिल जाय, तो भी उससे उसके जीवन का कल्याण नहीं हो सकता, उसके दुखों का अंत नहीं हो सकता।

अस्तु उसने पुनः निवेदन किया, "देव, मैं अपने भक्त के लिए धन की याचना नहीं करता। उस पर किसी अन्य प्रकार से अनुकम्पा करें। भगवन्! मेरी तो यही प्रार्थना है कि वह धर्मात्मा बने। उसकी बुद्धि सदैव धर्म में लगी रहे। उसके सारे जीवन में धर्म की ही प्रधानता हो। इसीको मैं अपने भक्त पर महान् अनुग्रह समझता हूँ।"

मणिभद्र ने कुण्डधार को पुनः प्रेरित किया, "कुण्डधार, धर्म का फल भी तो नाना प्रकार की सुख-सुविधा, धन-राज्य आदि का भोग होता है। अतः यह ब्राह्मण शारीरिक कष्टों से रहित होकर केवल उन फलों का ही उपभोग करें।"

कुण्डधार ने पुनः आग्रह किया, "यक्षराज, जिससे इस ब्राह्मण का धर्म बढ़े यही वर दीजिए।" मेघ कुण्डधार के आग्रह से सभी देवगण प्रसन्न और संतुष्ट हुए।

मणिभद्र ने कहा, "कुण्डधार! सभी देवता तुम पर तथा तुम्हारे भक्त पर प्रसन्न हैं। उन सभी का यह आशीर्वाद है कि यह धर्मात्मा होगा तथा इसकी बुद्धि सदैव धर्म में ही लगी रहेगी।"

मणिभद्र द्वारा ऐसा आश्वासन पाकर कुण्डधार बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु इधर ब्राह्मण मन ही मन बड़ा दुखित और उदास हो गया। वह सोचने लगा कि जब मेरे उपास्य

कुण्डधार ही मेरी पूजा-अर्चा का अर्थ नहीं समझ पा रहे हैं, तब भला दूसरा कोई मेरी साधना का तात्पर्य क्या समझेगा। इससे तो यही अच्छा है कि मैं वन में चला जाऊँ और धर्म की साधना में जीवन व्यतीत करूँ। ऐसा सोचकर वह वन को चला गया और वहाँ उसने उग्र तपस्या प्रारंभ कर दी। उसकी तपश्चर्या फलित हुई और उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई। इस सिद्धि से उत्साहित होकर उसने और भी कठिन तप प्रारंभ कर दिया। इस बार भगवत्कृपा से उसे संकल्पसिद्धि प्राप्त हो गई। उसने अनुभव किया कि उसके मन में उठनेवाले सभी संकल्प, फिर वे कितने भी ऊँचे क्यों न हों, सिद्ध हो जाते हैं और अब तो वह संकल्प मात्र से किसी भी व्यक्ति को प्रचुर धन अथवा राज्य तक दे सकता है।

ब्राह्मण इन्हीं विचारों में खोया था कि वहाँ देव-अनुचर मेघ कुण्डधार प्रकट हुए। उन्हें देख कर ब्राह्मण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणाम किया। विधि पूर्वक उनकी पूजा की। उसके सत्कार से कुण्डधार प्रसन्न हो गए।

कुण्डधार ने कहा, "तपस्वी, तुमने धन की इच्छा से देवों की उपासना की थी। धन की ही इच्छा से तुमने मेरा भी पूजन आदि किया था। किन्तु जब मैंने देवताओं से तुम्हें धन न देकर किसी अन्य प्रकार से अनुग्रह करने को कहा था, तब तुम खिन्न और दुखी होगए थे। दुखी होकर ही तुम वन में तप करने आए। प्रभु की कृपा से तुम्हारी तपस्या

फलीभूत हुई है। तुम्हें दिव्य दृष्टि एवं संकल्पसिद्धि प्राप्त हो गई है। तुम स्वयं अपनी आँखों से देख लो कि राजाओं और धनलोलुपों की क्या गति होती है।"

कुण्डधार की आज्ञा से ब्राह्मण ने ध्यान लगाया तथा अपनी दिव्य दृष्टि से उसने देखा — सहस्रों राजे-महाराजे नरक में डूबे हुए हैं तथा नाना प्रकार की यंत्रणाएँ भोग रहे हैं। यह दृश्य देखकर ब्राह्मण आश्चर्य चकित हो उठा। उसने देखा, उन सभी मनुष्यों को काम, क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, निद्रा आदि शत्रुओं ने घेर रखा है। ये रिपु उन्हें भयाकुल और संतप्त कर रहे हैं।

कुण्डधार ने कहा, 'तपस्वी! एक बार पुनः उन लोगों की दुर्दशा देखो जो धन-राज्य आदि के लोलुप हैं। अब तुम्हीं सोचो, यदि मैं तुम्हें धन देता भी तो धन पाकर अन्ततः तुम्हें दुख ही भोगना पड़ता। ऐसी दशा में मैं भला तुम्हारा क्या उपकार कर सकता था? जो धन और भोगों में आसक्त रहते हैं, उनके लिए स्वर्ग का द्वार बंद रहता है।

"देवताओं की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति इन रिपुओं से सुरक्षित रहकर धर्मानुष्ठान नहीं कर सकता। तुम सौभाग्यशाली हो। तुम्हें अपनी तपस्या के बल से इतनी शक्ति प्राप्त हो गई है कि अब तुम स्वयं दूसरों को धन तथा राज्य तक देने में समर्थ हो। अतः तुम्हें अब इन क्षुद्र वस्तुओं की क्या आवश्यकता है?"

दिव्य दृष्टि द्वारा भोग तथा भोगियों की दुर्दशा देखकर एवं कुण्डधार का उद्बोधन सुनकर ब्राह्मण का मोह नष्ट

हो गया और उसके ज्ञानचक्षु खुलगए। उसने कुण्डधार को साष्टांग प्रणाम किया और कहा, "प्रभु! आपने मुझ पर असीम अनुग्रह किया। आपकी अहैतुकी कृपा को न समझ सकने के कारण तथा काम और लोभ के वशीभूत होकर मैंने आपमें दोष देखा और आपका उचित सम्मान न कर सका। मेरे इस अपराध के लिए मुझे क्षमा करें।"

कुण्डधार ने स्नेह पूर्वक ब्राह्मण को उठाकर हृदय से लगा लिया तथा उसे आशीर्वाद देकर वे अंतर्धान हो गए। धर्म की महत्ता को समझकर ब्राह्मण धर्मानुष्ठान में मन-प्राण पूर्वक लग गया। समयानुसार उसे परम कल्याण की प्राप्ति हुई।

इसीलिए तो भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था—"राजन्! धन में तो सुख का लेश मात्र ही रहता है। परम सुख तो धर्म में ही है।[1]"

आज के इस भौतिकवादी, धनलोलुप युग में महाभारत की यह कथा चट्टानों से भरे समुद्र में दीपस्तंभ की भाँति हमारा मार्गदर्शन कर रही है। जब तक धर्म धन के आधीन रहेगा तब तक हमें कभी सुख और शांति नहीं मिल सकती। जीवन की परिचालना तथा प्रेरणा के मूल में जब तक धन की लिप्सा रहेगी तब तक हमारा जीवन अशांत और दुखी रहेगी। इस दुख से छूटने का एक ही उपाय है, और वह है जीवन की प्रेरणा के मूल में धर्म की स्थापना।

---

(१) महा० शान्ति प० अ० २७१—५६।

प्रश्न—क्या जीवन का कोई प्रयोजन है ? यदि है तो वह क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

—संतोष कुमार खुराना, लखनऊ

उत्तर—जीवन का अवश्य एक प्रयोजन है और वह है निहित शक्तियों की अभिव्यक्ति। मनुष्य में ब्रह्मभाव या ईश्वरत्व निहित है। उसे प्रकट करना जीवन का लक्ष्य है। मानव-मन जितना अन्तर्मुखीन और एकाग्र होता है, उसे जीवन के इस लक्ष्य की उतनी ही प्रतीति होती है।

❀ ❀ ❀

प्रश्न—मन की चंचलता का शमन कैसे हो सकता है ?

—देवेश ठाकुर, इन्दौर

उत्तर—आत्मविचार अथवा भगवान् की भक्ति से। चिन्तन प्रधान व्यक्ति आत्मविचार का सहारा लेता है और भावनाप्रधान व्यक्ति भगवान् की भक्ति का।

❀ ❀ ❀

प्रश्न—आध्यात्मिक जीवन में गुरु की आवश्यकता क्या अनिवार्य है ? यदि है तो उचित गुरु कहाँ और कैसे

मिलेंगे ? कहते हैं कि परखकर गुरु बनाना चाहिए, पर हममें इतनी शक्ति कहाँ कि गुरु को परख सकें। कृपया कुछ प्रकाश डालिए।

—रत्नप्रभा, कानपुर

उत्तर—प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए हमें एक मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक जीवन में भी यही नियम लागू होता है। मार्गदर्शक वह होता है जो स्वयं उस रास्ते से आगे बढ़ा होता है। गुरु उसे कहते हैं जो स्वयं अध्यात्म के रास्ते आगे गया हुआ होता है और जो अपने अनुभव का लाभ दूसरों को भी दे सकता है।

गुरु को परखना कठिन बात है। साधारणतया हममें इतनी क्षमता नहीं होती कि हम अध्यात्म की गहराई को समझ सकें। पर एक साधारण सा नियम यह है कि जिस व्यक्ति को हम गुरु के रूप में ग्रहण करना चाहते हों उसके जीवन को तनिक नजदीक से देखने का प्रयत्न अवश्य करें। तन, मन और वचन से पवित्रता—इतना तो कम से कम आध्यात्मिक गुरु में होना ही चाहिए।

जहाँ तक गुरु को खोजने का प्रश्न है, एक आध्यात्मिक नियम अनिवार्य रूप से कार्य करता है; वह यह कि जब सचमुच हमारे भीतर गुरु को पाने की आकुलता होती है, जब हमें यह लगता है कि बिना किसी पथप्रदर्शक के हमारा जीवन मानो अँधेरे में टटोलने के समान है, तब ऐसा कोई व्यक्ति हमारे जीवन में आ ही जाता है जिसके सहारे हम आगे बढ़ने में सक्षम होते हैं।

आश्रम समाचार

(१ सितम्बर से ३० नवम्बर तक)

साप्ताहिक सत्संग :— ४ और ११ सितम्बर को स्वामी आत्मानन्द ने कठोपनिषद् पर २६ वाँ और २७ वाँ प्रवचन दिया और इस प्रकार २७ प्रवचनों में कठोपनिषद् की चर्चा समाप्त की।

२, ९, १६, ३० अक्तूबर तथा ६, २७ नवम्बर को दस वर्षीया विलक्षण प्रतिभासम्पन्न कुमारी सरोजबाला के प्रवचनों का टेप रिकार्ड सत्संग भवन में सुनाया गया।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम :— १६, १७ और १८ सितम्बर को आश्रम-प्रांगण में कुमारी सरोजबाला के प्रवचन हुए। भारी संख्या में नर-नारी इस विलक्षण प्रतिभासम्पन्न बालिका के प्रवचन सुनने इकट्ठे हुए थे। तीसरे दिन लगभग १५००० की भीड़ ने शान्त चित्त के साथ सरोजबालाजी के प्रेरणाप्रद, भावप्रवण प्रवचन का लाभ उठाया।

४, ५ और ६ अक्तूबर को भारत के सुप्रसिद्ध रामायणी श्री रामकिंकर जी ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषणों से उपस्थ जन समुदाय को विभोर कर दिया। लोगों ने विशाल संख्या में उपस्थित होकर इन तीनों प्रवचनों का लाभ उठाया।

२० नवम्बर को अणुव्रती मुनि श्री शुभकरण जी ने अपने सार-गर्भित प्रवचन में यह बताया कि व्यावहारिक जीवन में अध्यात्म को किस प्रकार उतारा जा सकता है।

<u>स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम</u> :—१० और ११ सितम्बर को स्वामीजी ने गोंदिया में अन्तर्राष्ट्रीय योगमंडल के तत्वावधान में आयोजित कार्यक्रमों में भाग लिया। स्वामीजी ने कुमारी सरोजबाला के कार्यक्रम छत्तीसगढ़ अंचल में आयोजित किये थे। वे सरोजबालाजी के साथ १२ सितम्बर को अकलतरा और १३ सितम्बर को खरसिया में थे। खरसिया में स्वामीजी ने स्थानीय महाविद्यालय के छात्रसंसद का उद्घाटन करते हुए प्रजातंत्रात्मक प्रणाली का सुन्दर विवेचन उपस्थित किया। १४ सितम्बर को उन्होंने जांजगीर के महाविद्यालय के दर्शन-परिषद् का उद्घाटन किया तथा उसी रात्रि नैला में कुमारी सरोजबाला के साथ प्रवचन दिया। १५ सितम्बर को बिलासपुर में सरोजबालाजी का प्रवचन नगरपालिका विद्यालय के विशाल प्रांगण में हुआ। इन सभी स्थानों पर लोगों की भारी भीड़ उनके प्रवचनों को सुनने के लिए इकठ्ठी रहती थी। १७ नवंबर को स्वामीजी ने रायपुर के विज्ञान महाविद्यालय से गणित परिषद् का उद्घाटन किया।

भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय द्वारा आमंत्रित होकर स्वामी आत्मानन्द ने गुजरात के भिन्न भिन्न ३१ शहरों में ३५ दिनों में कुल ७८ व्याख्यान दिये। ये समस्त व्याख्यान भारत की संस्कृति और राष्ट्रीय उत्थान से सम्बन्धित थे। प्रायः सभी स्थानों पर भाषण के बाद प्रश्नों के लिए समय दिया गया। इन सभी प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर स्वामीजी के द्वारा प्रदान किया गया। संक्षेप में गुजरात का कार्य-क्रम इस प्रकार है —

२६ सितम्बर को नवसारी में नवसारी, टाटा एवं बनातवाला

इन तीनों हाई स्कूलों की संमिलित सभा में स्वामीजी ने विद्यार्थियों को संबोधित किया और शाम को स्थानीय लायन्स क्लब के तत्त्वावधान में भाषण दिया। २७ को सूरत में एम. टी. बी. आर्ट्स कालेज में, अखिल भारतीय महिला मंडल तथा सूरत महिला मंडल की संमिलित सभा में एवं जूनियर चैम्बर में — इस प्रकार कुल ३ भाषण दिये। २८ को भड़ौंच मे आर्ट्स कालेज में, के. जे. पालीटेकनिक में तथा सनातन धर्म प्रचार मंडल, अखिल भारतीय महिला मंडल एवं लायन्स क्लबकी संमिलित सभा में — इस प्रकार ३ व्याख्यान दिये। २९ को बढ़ौदा के यूनिवर्सिटी कालेज में तथा अखिल हिंद महिला परिषद् द्वारा आयोजित जनसभा में — इस प्रकार दो व्याख्यान हुए। बड़ौदा में पुनः ३० सितंबर को आर्य कन्या महाविद्यालय में, यूनिवर्सिटी की सोशल वर्क फैकल्टी में तथा स्थानीय नगर निगम के डिपुटी कमिश्नर श्री एम० एम० देसाई के निवासस्थान में — इस प्रकार ३ व्याख्यान।

वल्लभ विद्यानगर में १ अक्तूबर को वल्लभ भाई पटेल विश्वविद्यालय की शिक्षा फैकल्टी में तथा विश्वविद्यालय के महिला छात्रावास में इस प्रकार दो व्याख्यान। २ अक्तूबर को आनन्द में डी० एन० विद्यालय में, रोटरी क्लब में तथा वल्लभविद्यानगर में स्थित रामकृष्ण सेवा मन्दिर में — इस प्रकार तीन व्याख्यान। ३ अक्तूबर को नड़ियाद में कला और विज्ञान महाविद्यालय में, विठ्ठलभाई कन्या विद्यालय में तथा रोटरी क्लब में — ऐसे ३ व्याख्यान। ४ अक्तूबर को डाकोरके भारतीय विद्याभवन कला महाविद्यालय में तथा उसी के विज्ञान महाविद्यालय में — ऐसे २ व्याख्यान। ५ अक्तूबर को गोधरा में मेथोडिस्ट मिशन बेसिक ट्रेनिंग कालेज

(महिला) में, पी० एन० टी० कला विज्ञान महाविद्यालय में तथा रोटरी क्लब में — इस प्रकार ३ व्याख्यान। ६ अक्तूबर को कपड़वंज में पी० बी० साइंस कालेज में तथा लायन्स क्लब में ऐसे २ व्याख्यान। ७ अक्तूबर को पालना में हाईस्कूल में। उसीदिन पुनः अहमदाबाद में गुजरात विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग में, भारतीय विद्याभवन विज्ञान महाविद्यालयमें तथा जूनियर चैम्बरमें — इस प्रकार ३ व्याख्यान। ८ अक्तूबर को अहमदाबाद में ही गुजरात कालेज में, गुजरात विश्वविद्यालय के समाज विज्ञान विभाग में तथा ज्योति संघ नामक अत्यन्त सक्रिय महिला संस्था में — इस प्रकार ३ व्याख्यान। उसी रात्रि अडावज में गुजरात की शिक्षा मंत्राणी श्रीमती इन्दुमती चिमणलाल सेठ की अध्यक्षता में सार्वजनिक सभा में। ९ अक्तूबर को पुनः अहमदाबाद में ही आकाशवाणी में "आज का राष्ट्रधर्म" नामसे वार्ता रिकार्ड की गयी जिसका प्रसारण ३ दिसम्बर को हुआ। वहीं पर वार्ता के बाद समाज-मत का निर्माण करने वाले पत्रकारों, समाज-सेवकों को भेंट दी और उनके प्रश्नों का उत्तर दिया। उसी दिन संध्या भारत सेवक समाज तथा संयुक्त सदाचार समिति के सम्मिलित तत्त्रावधान में आयोजित सार्वजनिक सभा में सारगर्भित व्याख्यान दिया। इस सभा में आदरणीय श्री रविशंकर महाराज (दादाजी) विशेष रूप से उपस्थित थे। रात्रि में कोबा ग्रामवासियों के समक्ष एवं तदनन्तर कोबा महिला आश्रम में व्याख्यान हुए। १० अक्तूबर को गुजरात के महामहिम राज्यपाल श्री नित्यानन्द कानूनगो के विशेष आमंत्रण पर स्वामीजी राजभवन गये और वहाँ ३० मिनट तक देश की वर्तमान समस्याओं पर — विशेष करके छात्रों की समस्या पर — विचार-

विनिमय होता रहा। उसी दिन सन्ध्या मानसा में कला एवं विज्ञान महाविद्यालय में स्वामीजी का भाषण हुआ।

११ अक्तूबर को वीसनगर में नूतन सर्व विद्यालय में तथा रोटरी क्लब में — इस प्रकार २ व्याख्यान हुए। १२ अक्तूबर को ऐतिहासिक स्थान पाटण में सहस्र शिवलिंग के दर्शन करने के बाद सन्ध्या को नगरपालिका की ओर से आयोजित जनसभा को स्वामी जी ने संबोधित किया। १३ अक्तूबर को पालनपुर में कला एवं विज्ञान महाविद्यालय में तथा १४ अक्तूबर को वहीं के महिला मंडल में व्याख्यान हुए। उसी दिन दीसा में सार्वजनिक सभा को संबोधित करने के बाद दांतीवाड़ा नहर कालोनी में स्वामीजी ने नवरात्रि-उत्सव का उद्घाटन किया। १५ अक्तूबर को राधनपुर में तथा १६ अक्तूबर को अंजार में ओपन एयर थियेटर में महती जनसभा के समक्ष स्वामीजी ने धर्म और राष्ट्र पर विशद विवेचन किया। १७ अक्तूबर को कच्छ जिला के प्रमुख शहर भुज में शासकीय बेसिक ट्रेनिंग कालेज में, रोटरी क्लब में तथा भारतीय संस्कृति सेवा मंडल के तत्वावधान में आयोजित विशाल जनसभा में — इस प्रकार ३ व्यख्यान हुए। १८ अक्तूबर को आकाशवाणी भुज में स्वामीजी की वार्ता रिकार्ड की गयी जिसका प्रसारण २६ अक्तूबर को किया गया। १८ अक्तूबर को सन्ध्या माण्डवी में रोटरी क्लब और सत्संग आश्रम के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित महती सार्वजनिक सभा को सम्बोधित किया। १९ अक्तूबर को आदिपुर के रोटरी क्लब में तथा बाद में गांधीधाम के सत्यनारायण सत्संग मंडल की ओर से आयोजित जनसभा में स्वामीजी ने

व्याख्यान दिये। २० अक्तूबर को मोरवी के रोटरी क्लब में तथा २१ अक्तूबर की सुबह वहीं के शंकर आश्रम में स्वामीजी के प्रेरणाप्रद भाषण हुए।

२१ अक्तूबर को ही राजकोट में कान्ता स्त्री विकासगृह के तत्त्वावधान में तथा तदनन्तर टाउनहाल में इस प्रकार २ व्याख्यान हुए। २२ अक्तूबर को जामनगर में सर्वोदय महिला मंडल में तथा शाम को टाउनहाल में ऐसे २ व्याख्यान। २३ अक्तूबर को श्रीद्वारकाधाम के दर्शन करते हुए स्वामीजी मीठापुर पहुँचे जहाँ टाटा केमिकल्स लि० के तत्त्वावधान में आयोजित एक विशाल जनसभा को उन्होंने सम्बोधित किया। २४ अक्तूबर को पोरबन्दर में रोटरी एवं लायन्स क्लबों के संयुक्त तत्त्वावधान में स्वामीजी का भाषण हुआ। २५ अक्तूबर को जूनागढ़ में लेडीज़ क्लब में, रोटरी क्लब में तथा लड़कों के एन. सी. सी. कैम्प में — इस प्रकार ३ व्याख्यान हुए। २६ अक्तूबर को प्रभास-पाटण और सोमनाथ के दर्शन करने के उपरान्त वेरावल में संस्कार मंडल और वेरावल क्लब के सम्मिलित तत्त्वावधान में स्वामीजी ने प्रभावी भाषण दिया तथा गीर वन में से जाते हुए २७ अक्तूबर को अमरेली क लायन्स क्लब द्वारा आयोजित महती जनसभा को सम्बोधित किया। २८ अक्तूबर को सुबह लाठी में तथा रात्रि में पालीताना में स्वामीजी के भाषण हुए। २९ अक्तूबर को सिहोर में महिला मंडल के कार्यक्रम में भाग लेकर उसी दिन शाम को भावनगर पहुँच गये जहाँ उन्होंने रोटरी क्लब द्वारा आयोजित सभा को सम्बोधित किया। ३० अक्तूबर को वधवान सिटी में विकास विद्यालय के तत्त्वावधान में आयोजित जनसभा को सम्बोधित कर स्वामीजी उसी

दिन सन्ध्या सुरेन्द्रनगर पहुँचे जहाँ अपने गुजरात दौरे के अन्तर्गत अन्तिम कार्यक्रम के रूप में उन्होंने संस्कार केन्द्र द्वारा आयोजित सभा को संबोधित किया। ३१ अक्तूबर को वे रायपुर के लिए रवाना हो गये।

६ नवंबर को स्वामी आत्मानन्द मुंगेर (बिहार) में थे। वहाँ उन्होंने बिहार योग विद्यालय के तत्त्वावधान में आयोजित तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन में भाग लिया और देश-विदेश से आये हुए लगभग १५०० प्रतिनिधियों के समक्ष "विज्ञान के युग में योग का भविष्य" इस विषय पर युक्तिसंगत और अत्यन्त प्रभावी भाषण दिया। परमहंस श्री स्वामी सत्यानन्दजी सरस्वती तथा उनकी शिष्या माँ योगशक्ति, जिनकी प्रेरणा से यह सम्मेलन हुआ करता है, हार्दिक बधाई के पात्र हैं जिन्होंने सम्मेलन का संचालन अत्यन्त कुशलता से एवं व्यवस्थित रूप से किया।

८ नवंबर की रात्रि को स्वामी आत्मानन्द अमृतसर पहुँचे। वहाँ ९, १०, ११ और १२ नवंबर को अखिल भारतीय वेदान्त संमेलन में उनके अत्यन्त प्रभावी भाषण हुए। विशेषकर वहाँ का शिक्षित समुदाय स्वामीजी की युक्तियुक्त और वैज्ञानिक प्रणाली के द्वारा वेदान्त के गूढ़ तथ्यों को समझाने की शैली से विशेष प्रभावित हुआ। ११ अक्तूबर को अपराह्न में अमृतसर के बार एसोसियेशन की ओर से स्वामीजी को आमंत्रित किया गया जहाँ उन्होंने श्रोताओं से प्रश्न पूछने के लिए कहे। सभी प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर श्रोताओं को प्राप्त हुआ।

२१ और २२ नवंबर को नई दिल्ली के अध्यात्म और मनो-

विज्ञान अनुसन्धान संस्था के तत्त्वावधान में आयोजित सभाओं में स्वामीजी ने 'विज्ञान और धर्म' तथा 'कर्मयोग की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि' पर सारगर्भित व्यख्यान दिये ।

२९ नवंबर को हिम्मत स्टील फाउन्ड्री, कुम्हारी में भिलाई-नगर के रोटरी क्लब की ओर से एक जनसभा का आयोजन किया गया था जहाँ स्वामीजी ने विज्ञान के युग में धर्म के भविष्य पर विवेचना की और अपने तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया कि आज के वैज्ञानिक युग में धर्म का भविष्य उज्वल है ।

—:•:—

सुख अपने सिर पर दुख का ताज पहन कर मनुष्य के सामने आता है । जो सुख का स्वागत करेगा, उसे दुख का भी स्वागत करना पड़ेगा ।

— स्वामी विवेकानन्द

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी ।

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन-स्थान — रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिता — त्रैमासिक

३. मुद्रक का नाम — बाबू गोपालदास

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — श्रीविश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी-१

४. प्रकाशक का नाम — स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

५. सम्पादक नाम — स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

६. स्वत्वाधिकारी — स्वामी आत्मानन्द

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द